'व्याख्यान-सार-सग्रह' पुस्तकमाला का दूसरा पुष्प।

श्री मज्जैनाचार्य—

पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज

के व्याख्यानों में से—

# सकडालपुत्र श्रावक।


सम्पादक—

श्री पं० मुन्नालालजी शास्त्री

संशोधक

पं० शङ्करप्रसादजी दीक्षित



प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज

के सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल

रतलाम (मालवा)

दूसरी बार 2000 प्रति | वीराब्द २४५८ विक्रमाब्द १९८९ | मूल्य =)

प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी जैन

पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज

के संप्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल

रतलाम ( मालवा )

# किंचिद् वक्तव्य।

'व्याख्यान-सार-संग्रह पुस्तक-माला' के दूसरे पुष्प सकडालपुत्र श्रावक का संशोधित संस्करण पाठकों के सामने रखते हुए हमें बहुत हर्ष हो रहा है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण थोड़े ही समय में समाप्त हो गया, इसलिये दूसरा संस्करण निकालने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मण्डल ने प्रथम संस्करण में थोड़े से संशोधन की आवश्यकता समझी, तदनुसार संशोधन करा कर यह दूसरा संस्करण निकाला गया है। आशा है कि यह संस्करण प्रथम संस्करण की अपेक्षा पाठकों को अधिक पसन्द होगा।

प्रथम संस्करण की पुस्तक का मूल्य ।≈) था। मण्डल को उस संस्करण की छपाई में व्यय ही इतना पड़ा था और उसका बाइंडिंग भी जिल्ददार था। यह क़ीमत कुछ अधिक थी, इसलिये इस संस्करण में हमने ऐसी योजना की है कि जिससे पुस्तक की क़ीमत कम हो। इसके लिये हमने पुस्तक का साइज़ और टाइप बदलने के साथ ही, दो हज़ार प्रतियें छपवाई हैं, इस कारण इस बार पुस्तकें सस्ती पड़ी हैं। अर्थात् इस बार पुस्तक की क़ीमत केवल दो ही आने है। हमें आशा है कि यह बात भी पाठकों की प्रसन्नता का कारण बनेगी।

अन्त में हम यह निवेदन कर देना उचित समझते हैं, कि पूज्य श्री का व्याख्यान तो साधु-भाषा में एवं शास्त्र-सम्मत ही होता है, लेकिन कार्यकर्त्ताओं से भूल होना सम्भव है। अतः यदि इस संशोधित संस्करण में भी कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो, तो कृपालु पाठक हमें सूचित करने की कृपा करें। त्रुटियों के लिये हम या हमारे कार्यकर्त्ता ही दोषी ठहराये जा सकते हैं, पूज्य श्री का इसमें कोई दोष नहीं हो सकता। पाठकों की ओर से किसी त्रुटि की सूचना मिलने पर हम यथासाध्य उस त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न करेंगे। किमधिकम्।

भवदीय—

रतलाम
आषाढ़ी पूर्णिमा
सं० १९८९ वि०

बालचन्द श्री श्रीमाल — सेक्रेटरी
वर्द्धमान पीतलिया — प्रेसीडेण्ट

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज
की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मंडल

# सकडालपुत्रश्रावक।

संसार में विरोधी-पक्ष सदा से चला आता है और किसी अपेक्षा से उसका होना भी आवश्यक है। बिना विरोधी-पक्ष के अच्छे-बुरे या हेय-उपादेय की पहिचान नहीं हो सकती। यदि 'रात' न हो, तो दिन को 'दिन' नाम से कोई न पुकारे। इसी प्रकार यदि विरोधी-पक्ष न हो, तो वास्तविकता का कोई महत्व भी न रहे। उदाहरण के लिये, 'झूठ' है, तभी 'सत्य' पहिचाना भी जाता है और उसका महत्व भी है। यदि 'झूठ' न हो, तो सत्य को कैसे पहिचाना जा सकता है और उसका महत्व भी क्यो हो? इससे सिद्ध हुआ कि वास्तविकता का महत्व, विरोधी पक्ष के बिना जाता रहता है।

'धर्म' का विरोधी 'अधर्म' है। 'अधर्म' की पर्याय से ही 'धर्म' जाना जाता है, और उसका महत्व है। अधर्म से घबरा कर ही, प्राणी, धर्म की शरण लेता है। प्राणी, जब देख लेता है कि, अधर्म से मेरी हर प्रकार हानि है—मुझे सब तरह से अशान्ति है—तभी वह धर्म की खोज करता है और धर्म की शरण लेता

है, तथा तभी वह धर्म का महत्व जानकर, धर्म को उपादेय भी मानता है।

आत्मा का यह स्वभाव है, कि वह अधर्म के नाम से सदा डरता ही रहता है। कोई भी व्यक्ति, अधर्म को अधर्म जान कर उसका सेवन नही करता। हाँ, यह बात दूसरी है कि कोई प्राणी किसी स्वार्थवश या विवश होकर, अधर्म को समझता हुआ भी उसका सेवन करे, या वह अधर्म उसे धर्म के रूप में हृदयङ्गम करा दिया गया हो, इसलिए उसका अनुसरण करे; अन्यथा प्रत्येक प्राणी स्वभावतः धर्मप्राप्ति की ही इच्छा रखता है।

यद्यपि आत्मा को, धर्म प्रिय है—आत्मा, धर्म ही चाहता है लेकिन कई बार वह स्वार्थियो के बंहकावे मे पड़ कर—लम्पटियो की कुयुक्तियो में उलझ कर-धर्म के रूप मे अधर्म को भी अपना लेता है। धर्म की स्थिति, सिद्धान्तो पर है और मिथ्याभिमानी स्वार्थी एवम् बिना त्याग किये ही यश-कीर्त्ति चाहने वाले लोग बुरे सिद्धान्तो के बल पर अपने अनुयायी बनाने की चेष्टा करते हैं। धर्म से कोसो दूर ये बुरे सिद्धान्त, धर्म के नाम पर लोगों के हृदय मे भर दिये जाते है, जिससे लोग अधर्म को भी धर्म मान कर उसका सेवन करने लगते है।

धर्म के नाम पर अधर्म मे फँस जाना, साधारण मनुष्यो के लिये स्वाभाविक है। भोले-भाले लोगों में लम्पटियो की कुयुक्तियों

पर विचार करने की शक्ति कहाँ ? वे तो तात्कालिक समाधान पर सन्तुष्ट हो जाते हैं, और उसी आधार पर अधर्म को भी धर्म मानने लगते हैं। ऐसे अधर्मानुयायी, यद्यपि अधर्म को मानते तो हैं धर्म समझ कर ही, लेकिन जिसे वे धर्म मान रहे हैं, उसे उसके विरोधियो की बातो से जबतक आजमा न लें, दूसरे की बातें सुनकर अपने माने हुए धर्म को टकरा न लें, तब तक वह धर्म मानना भी अन्धश्रद्धा ही है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, कि वह अपनी मानी हुई बात को अपने आत्मा-द्वारा, या यदि यह शक्ति नहीं है, तो दूसरे की बातें सुनकर और सुनी हुई बातों के विषय में अपने धर्माध्यक्ष से निर्णय करके— सत्यता का विश्वास करले। साथ ही धर्म प्रचारको का भी यह कर्त्तव्य है, कि वे, धर्म के नाम पर स्थित अधर्म को जनता के हृदय से निकालने और उसकी जगह धर्म को स्थान दिलाने के लिये चेष्टा करें—प्रमाण-युक्ति, हेतु आदि से धर्म-अधर्म का रूप समझावें—तथा जिज्ञासु के हृदय से अधर्म को निकाल, धर्म स्थित करावें। उपासक दशाङ्ग सूत्र मे वर्णित प्रस्तुत कथा में यह बतलाया गया है कि भगवान् महावीर ने सकडालपुत्र के हृदय से होनहारवाद की श्रद्धा मिटा कर पुरुषार्थवाद की श्रद्धा किस प्रकार जमाई थी।

भगवान महावीर के समय में भी धर्म के नाम पर अनेक

है, तथा तभी वह धर्म का महत्व जानकर, धर्म को उपादेय भी मानता है।

आत्मा का यह स्वभाव है, कि वह अधर्म के नाम से सदा डरता ही रहता है। कोई भी व्यक्ति, अधर्म को अधर्म जान कर उसका सेवन नहीं करता। हाँ, यह बात दूसरी है कि कोई प्राणी किसी स्वार्थवश या विवश होकर, अधर्म को समझता हुआ भी उसका सेवन करे, या वह अधर्म उसे धर्म के रूप में हृदयङ्गम करा दिया गया हो, इसलिए उसका अनुसरण करे; अन्यथा प्रत्येक प्राणी स्वभावतः धर्मप्राप्ति की ही इच्छा रखता है।

यद्यपि आत्मा को, धर्म प्रिय है—आत्मा, धर्म ही चाहता है लेकिन कई बार वह स्वार्थियो के बंहकावे मे पड़ कर—लम्पटियो की कुयुक्तियो में उलझ कर-धर्म के रूप मे अधर्म को भी अपना लेता है। धर्म की स्थिति, सिद्धान्तो पर है और मिथ्याभिमानी स्वार्थी एवम् बिना त्याग किये ही यश-कीर्त्ति चाहने वाले लोग बुरे सिद्धान्तों के बल पर अपने अनुयायी बनाने की चेष्टा करते हैं। धर्म से कोसो दूर ये बुरे सिद्धान्त, धर्म के नाम पर लोगो के हृदय में भर दिये जाते हैं, जिससे लोग अधर्म को भी धर्म मान कर उसका सेवन करने लगते हैं।

धर्म के नाम पर अधर्म में फँस जाना, साधारण मनुष्यों के लिये स्वाभाविक है। भोले-भाले लोगों में लम्पटियो की कुयुक्तियों

पर विचार करने की शक्ति कहाँ ? वे तो तात्कालिक समाधान पर सन्तुष्ट हो जाते हैं, और उसी आधार पर अधर्म को भी धर्म मानने लगते हैं। ऐसे अधर्मानुयायी, यद्यपि अधर्म को मानते तो हैं धर्म समझ कर ही, लेकिन जिसे वे धर्म मान रहे हैं, उसे उसके विरोधियों की बातो से जबतक आजमा न लें, दूसरे को बातें सुनकर अपने माने हुए धर्म को टकरा न लें, तब तक वह धर्म मानना भी अन्धश्रद्धा ही है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, कि वह अपनी मानी हुई बात को अपने आत्मा-द्वारा, या यदि यह शक्ति नहीं है, तो दूसरे को बातें सुनकर और सुनी हुई बातों के विषय में अपने धर्माध्यक्ष से निर्णय करके—सत्यता का विश्वास करले। साथ ही धर्म प्रचारकों का भी यह कर्त्तव्य है, कि वे, धर्म के नाम पर स्थित अधर्म को जनता के हृदय से निकालने और उसकी जगह धर्म को स्थान दिलाने के लिये चेष्टा करें—प्रमाण-युक्ति, हेतु आदि से धर्म-अधर्म का रूप समझावें—तथा जिज्ञासु के हृदय से अधर्म को निकाल, धर्म स्थित करावें। उपासक दशाङ्ग सूत्र मे वर्णित प्रस्तुत कथा में यह बतलाया गया है कि भगवान् महावीर ने सकडालपुत्र के हृदय से होनहारवाद की श्रद्धा मिटा कर पुरुषार्थवाद की श्रद्धा किस प्रकार जमाई थी।

भगवान महावीर के समय में भी धर्म के नाम पर अनेक

अधर्म चल रहे थे। भगवान ने इस प्रकार के अधर्मों को मिटाने के लिये और शुद्ध धर्म का पुनरुद्धार करने के लिये अपने तन-मन को धर्म के अर्पण कर दिया था। उन्होने, अधर्म मिटा कर धर्म फैलाने की शक्ति प्राप्त करने के लिये ही, बारहवर्ष-छः मास पन्द्रह दिन की दुष्कर तपस्या करने का कष्ट उठाया था। भगवान महावीर के समय में, धर्म के नाम पर चलनेवाले अधर्मों में से एक वह मत था, जिसका संस्थापक मंखलीपुत्र-गौशालक था। यद्यपि गौशालक पहले भगवान् महावीर का ही शिष्य था, लेकिन किसी कारण से वह भगवान् महावीर के अनुशासन से निकल गया था और भगवान् महावीर का निन्दक बनकर एक दूसरे मत की स्थापना की थी। उसका मत होनहारवाद के सिद्धान्त पर स्थित था। वह अपने अनुयायियो को यह उपदेश देता कि जो कुछ होता है, होनहार से होता है, पुरुषार्थ से कुछ नहीं होता।

होनहारवाद और पुरुषार्थवाद ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। भगवान महावीर पुरुषार्थवाद के उद्धारक थे, और गौशालक होनहारवाद का संस्थापक था। भगवान महावीर का उपदेश था कि पुरुपार्थ से कोई भी कार्य कठिन नहीं है। पुरुपार्थ करने पर भी यदि एक वार कार्य मे सफलता नहीं मिली है, तब भी पुरुपार्थ न छोड़ना चाहिए। पुरुपार्थ करते रहने पर उसमे सफ-लता मिलेगी ही। फल को देखकर निराश होना और पुरुपार्थ

छोड़ देना कायरता है, वीरता नहीं है।

गीता में भी कहा है—

*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।*

अर्थात्—तू कर्म करने का अधिकारी है, फल कभी न देख। फल देखने से तू कर्म न कर सकेगा, तेरे में कायरता आजावेगी।

गीता में कहे हुए कर्म का अर्थ है, पुरुषार्थ। पुरुषार्थी को फल पर दृष्टि न देनी चाहिए। ऐसा करने से पुरुषार्थ में कायरता आ जाने का भय है। भगवान महावीर का उपदेश यही था कि आत्मोद्धार के लिये पुरुषार्थ करो, लेकिन गोशालक पुरुषार्थ को अनावश्यक बतलाता था। वह कहता था कि पुरुषार्थ से कोई लाभ नहीं है, जो-कुछ होना होगा, वह हो जायगा। गोशालक का यह मत 'आजीविक-मत' कहलाता था। गोशालक के इस आजीविक मत के विचार से, लोगों में प्रमाद और अकर्मण्यता फैलती थी, जिससे प्राणियों की बहुत हानि थी। एक नीतिकार ने कहा है—

*प्रमादोहि वरं शत्रु सदा तिष्ठति भित्तरे ।*

'आलस्य, सब से बड़ा शत्रु है और वह सदा भीतर-शरीर में-ही रहता है।"

गोशालक अपने मत के प्रचार द्वारा लोगों में आलस्य फैलाता था, लेकिन भगवान महावीर इस प्रचार का विरोध करते

थे और गौशालक का मत माननेवाले को पुरुषार्थवाद का महत्व समझा कर उसके हृदय से होनहारवाद की श्रद्धा मिटाते थे।

गौशालक, जिस मत का संस्थापक एवम् प्रचारक था, उस मत का एक पूर्ण अनुयायी पोलासपुर नामक नगर में रहता था। इस अनुयायी का नाम सकडालपुत्र था। सकडालपुत्र, जाति का कुम्हार था और गौशालक के चलाये हुए मत का अनन्य भक्त था।

लोकोत्तर धर्म, किसी जाति या व्यक्ति विशेष के लिये ही नहीं है, किन्तु सब के लिये है। उत्तम-से-उत्तम कहलाने वाला जिस धर्म का उपासक है, उसी धर्म की उपासना एक नीच-से-नीच कहलाने वाला भी कर सकता है। भगवान महावीर के समय में, लोगो ने, धर्म को एक ठेके की वस्तु बना ली थी, और नीच–अछूत–कहलाने वाले शूद्रों को उससे वंचित कर दिया था। इतना ही नहीं, बल्कि इन धर्म से वंचित लोगों पर, धर्म के नाम से अत्याचार भी किया जाता था। भगवान महावीर ने इस प्रथा का भी विरोध किया और अपने धर्म में सब को स्थान दिया। भगवान की इस नीति का अनुकरण गौशालक ने भी किया था, इसी कारण—कुम्हार होते हुए भी–सकडालपुत्र उसके मत का अनुयायी था।

जिस प्रकार भगवान महावीर के गृहस्थ अनुयायी 'श्रमणो-

पासक' कहलाते हैं, उसी प्रकार गौशालक के मत के गृहस्थ अनुयायी "आजीविकोपासक" कहलाते थे। आजीविकोपासक लोग, गौशालक को ही अपना तीर्थङ्कर तथा उपास्य मानते थे। गौशालक का मत किसी सच्चे सिद्धान्त के ऊपर स्थित नहीं था; तथा गौशालक, नक़ली तीर्थङ्कर था, इसलिये उसका मत अधिक समय तक नहीं चला और अब तो उसके मत की बात केवल जैन-शास्त्रों में ही मिलती है।

सकडालपुत्र, गौशालक के मत का पूर्ण अनुयायी था। यद्यपि वह 'धर्म' नामधारी अधर्म में फंसा हुआ था, लेकिन उसने उस मत का खूब मनन किया था, जिससे उसे गौशालक के मत पर ऐसा विश्वास हो गया था, कि उसकी हड्डी-मज्जा में भी आजी-विक मत का प्रेमानुराग भरा हुआ था। सकडालपुत्र ने, अन्ध श्रद्धालु की तरह गौशालक के मत पर भी विश्वास नहीं किया था, किन्तु उसने अपनी बुद्धि के अनुसार, उस मत के विषय में गौशालक से खूब पूछताछ की थी और संशय कर करके हृदय का समाधान कर लिया था।

किसी बात—और विशेषत: किसी धर्म पर बिना परीक्षा किये ही एक दम से विश्वास कर लेना अन्धश्रद्धा कहलाती है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह जिस धर्म को स्वीकार करना चाहता है, या स्वीकार किया है, उसके विषय में खूब अनुसन्धान करले,

तथा अपने हृदय का सब प्रकार से समाधान करले। जब तक धर्म के प्रति हृदय में किसी प्रकार की शंका है धर्म की किसी भी बात के विषय में संशय है, तब तक वह, धर्म का पूर्ण अनुयायी नहीं कहला सकता। पूर्ण–अनुयायी तभी कहलावेगा, जब उसने धर्म-विषयक सभी शंकाऐं मिटाली हों और अब उसके मन में धर्म की ओर से किसी प्रकार का संशय शेष न रह गया हो। धर्म के विषय में जितना अधिक संशय किया जायगा, धर्म पर उतना ही अधिक विश्वास होगा। वैसे तो धर्म की किसी बात के विषय में संशय करना प्रमाद है और प्रमाद, कांक्षा मोहनीय कर्म के बन्ध का हेतु है, लेकिन संशय दो प्रकार का होता है। एक संशय वस्तु निर्णयात्मक होता है और दूसरा संशय अविश्वास रूप होता है। पहले प्रकार का संशय, प्रमाद में नहीं है, किन्तु ज्ञान को बढ़ाने-वाला और ईहाज्ञान का एक भेद है। इस प्रकार का संशय, समय-समय पर गौतम स्वामी को भी हुआ है। गौतम स्वामी के विषय में "जाय संसये" पाठ शास्त्र में जगह-जगह मिलता है। इस प्रकार वस्तु निर्णयात्मक संशय, प्रमाद में नहीं है। इस संशय के लिये गीता में कहा है—

*न संशयं मना राहो*

"संशय में प्राप्त हुए बिना, कोई भी आत्मा, कल्याण नहीं कर सकता।"

दूसरा—अविश्वासरूप—संशय, आत्मा का पतन कर देता है। ऐसे संशय के लिये कहा है—

*संशयात्मा विनश्यति*

"संशय से, आत्मा का विनाश हो जाता है।"

प्रमाद में, इसी संशय की गणना है और इसी संशय से कर्म-बन्ध होता है। धर्म की किसी बात के विषय में, संशय करना और उस संशय को नहीं मिटाना—हृदय में रहने देना—धर्म पर अविश्वास उत्पन्न करता है और धर्म पर अविश्वास होना, कर्म-बन्ध का हेतु है।

सकडालपुत्र ने, गोशालक के मत के विषय में, सन्देह कर करके सब शंकाएँ निवारण कर ली थीं, तथा उस मत को शुद्ध रूप से अपने हृदय में स्थान दिया था। वह, आजीविक मत को ही धर्म अर्थ एवम् परमार्थ थानता था, शेष सबको अनर्थ कहता था।

किसी विषय में संशय तभी हो सकता है, जब, उस विषय का मनन किया जावे। उस विषय पर विचार किए बिना—उसको जाने बिना—शंका हो तो किस पर और कैसे? उदाहरण के लिये, एक मूर्ख आदमी के हाथ में पुस्तक देकर उससे पूछा जावे कि इस पुस्तक के विषय में क्या सन्देह है? तो इस प्रश्न के उत्तर में वह अधिक-से-अधिक यही कह सकता है, कि—मुझे

इस पुस्तक के विषय में कोई सन्देह नहीं है। यद्यपि उसका यह उत्तर ठीक नहीं है, लेकिन जब वह उस पुस्तक को पढ ही नहीं सकता है, तो दूसरा उत्तर क्या दे? तात्पर्य यह कि, धर्म के विषय मे कोई संशय तभी हो सकता है, जब धर्म पर विचार किया जावे, धर्म का मनन किया जावे। सकडालपुत्र ने गौशालक के मत पर अपनी बुद्धि-अनुसार खूब विचार किया था, उसका गूढ मनन किया था और ऐसा करते हुए उसे जो शंकाएँ हुईं, उनका उसने गौशालक से समाधान भी कर लिया था।

सकडालपुत्र, तीन क्रोड़ सोनैये की सम्पत्तिवाला था। उसने, अपनी इस सम्पत्ति मे से एक क्रोड़ सोनैये कोष मे रख छोड़े थे, एक क्रोड़ व्यापार मे फैला रखे थे, और एक क्रोड की विस्तार वाली सम्पत्ति थी। उसका व्यवसाय वही था, जो कुम्हारों का हुआ करता है। अर्थात्, मिट्टी के बर्तन बना-बना कर बेचना, उसका व्यवसाय था। इस व्यवसाय के लिये पोलासपुर नगर के बाहर उसकी पाँच सौ दूकानें थीं। जिन पर कई कार्यकर्त्ता भी नियुक्त थे।

आज कई जैन धर्मानुयायी शायद यह कहेंगे, कि सकडालपुत्र, मिट्टी के बर्तन बनाने का व्यवसाय करता था, तब तो वह महारंभी था। सकडाल पुत्र, मिट्टी के बर्तन बनाने का आरंभ अवश्य करता था, लेकिन उसकी यह आजीविका, वंश-परम्परा

से चली आती थी। अपनी पैतृक आजीविका करता हुआ भी, वह हृदय का मलिन न था। उसकी आन्तरिक और व्यवहारिक नीति, अन्य गृहस्थो की अपेक्षा ख़राब न थो। इसके सिवा अग्नि, मिट्टी, पानी आदि का आरम्भ, महारम्भ भी नहीं कहलाता है, तथा आगे यह बात और सिद्ध की गई है, कि सकडालपुत्र महारम्भी नहीं था।

सकडालपुत्र की पाँच सौ दूकाने, नगर के बाहर इसलिये थीं, कि बर्तन बनाकर पकाने में जो धुआँ होता है, वह नगरमें नफैले। नगर में धुआँ फैलने से, नगर-निवसियो के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। आज भी यह देखा जाता है, कि कुम्हारों के घर अधिकांश में नगर या ग्राम से बाहर ही होते हैं।

पहले के लोग अपने पास की समस्त सम्पत्ति को बाहर ही नहीं फैला देते थे, किन्तु जितनी सम्पत्ति बाहर-व्यापार में फैली हुई रखते थे, लग-भग उतनी ही अपने कोष में समय-असमय के लिये सुरक्षित भी रखते थे। उनका व्यवहार, वट-वृक्ष की तरह होता था। कहाजाता है कि वट-वृक्ष जितना ऊपर उठा हुआ होता है, भूमि में भी अपनी उतनी ही जड़ रखता है। पूर्व समय के लोग, ऐसा ही व्यापार व्यवहार किया करते थे। आज के बहुत से लोग थोड़ी हैसियत होते हुए भी अधिक हैसियत वाले बनने के लिए, वाह्याडम्बर बढ़ा लेते

हैं, लेकिन पूर्व के लोग, अपनी हैसियत से अधिक वाह्याडम्बर नहीं रखते थे। ऐसा करने के कारण उनके लिये आज के लोगों की तरह दिवाला निकालने का समय भी नहीं आता था।

उस समय के लोग, जितने क्रोड़ सोनैये का व्यापार करते थे, अपने यहाँ उतने ही गोकुल भी रखते थे। एक गोकुल, दस हज़ार गायों का होता है। गायें पालने के कारण, उनके यहाँ दूध-घी आदि पौष्टिक पदार्थों की भी कमी नहीं रहती थी, और गौओं की सहायता होने से—आर्थिक स्थिति भी नहीं बिगड़ती थी। सकडालपुत्र का व्यापार एक क्रोड़ सोनैये का था, इसलिए उसके यहाँ भी गौ का एक गोकुल था।

सकडालपुत्र के, अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी। अग्नि-मित्रा, रूपवती और बुद्धिमती होने के साथ ही, पतिपरायणा भी थी। पति की इच्छा ही उसकी इच्छा थी, पति की इच्छा के विरुद्ध वह कोई काम नहीं करती थी।

सकडालपुत्र का जीवन, अनियमित न था, किन्तु नियमित था। वह कार्य के समय कार्य करता, धर्म-ध्यान के समय धर्म-ध्यान करता और विश्राम के समय विश्राम करता। इस प्रकार उसके प्रत्येक कार्य नियमित थे।

आज-कल के लोगों में, अनियमितता अधिक देखने में आती है। कई लोग, सोने के समय तो जागते हैं और जागने

के समय सोते हैं। उनके समीप, समय का कोई मूल्य ही नहीं है, न वे किसी नियम का पालन ही आवश्यक समझते हैं। कई लोग, अपना समय इधर-उधर में नष्ट कर देते हैं और धर्म-ध्यान के लिये, सांसारिक कामों के कारण, समय का अभाव बतलाते हैं। यद्यपि वे चाहें तो कम-से-कम अपने इधर-उधर में नष्ट होने वाले समय को धर्मध्यान में लगा सकते हैं, लेकिन ऐसा नहीं करते, इसलिए यही कहा जा सकता है कि उन्हें धर्म से भली प्रकार प्रेम नहीं है। ऐसे लोग, अपना समय इधर उधर में नष्ट करके धर्मध्यान से भी वंचित रहते हैं और साथ ही अनियमितता के कारण अपना स्वास्थ्य भी नष्ट करते हैं। पूर्व समय के लोग प्रत्येक कार्य नियत समय पर करते थे, किसी भी कार्य में अनियमितता नहीं होने देते थे। ऐसा करके वे लोग धर्म-सेवा का भी लाभ लेते थे और उनका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता था।

सकडालपुत्र, नियत समय पर अपने सांसारिक कामों से निवृत्त होकर धर्मध्यान किया करता था। धर्मध्यान के लिये उसने एक अशोक-वाटिका बना रखी थी। वह उसी अशोक-वाटिका बना रखी थी। वह उसी अशोक-वाटिका में बैठ कर धर्मध्यान किया करता। यद्यपि उसका धर्मध्यान गौशालक के मतानुसार हुआ करता था, लेकिन उसकी पूर्व-पुण्याई अच्छी थी, जिसके प्रताप से उसे केवली-प्ररुपित धर्म प्राप्त होना था।

पूर्व पुण्याई के प्रताप से एक दिन सकडालपुत्र को—जब वह अपनी वाटिका में बैठा हुआ धर्मध्यान कर रहा था, आकाश-स्थित एक देव दिखाई पड़ा। वह देव, पाँचवर्ण के सुन्दर वस्त्र, कानों में कुण्डल और गले में रत्नों का दिव्य हार पहिने हुए था। उसके मुख का तेज सभी दिशाओं को आलोकित करता था। पैरों में पहिनी हुई रत्न जटित घूँघरमाल की मधुर झन्कार, सब ओर सुनाई दे रही थी।

देव, अवधिज्ञानी हुआ करते हैं। उनकी बुद्धि, मनुष्यों की बुद्धि की अपेक्षा अधिक विकसित रहती है। सकडालपुत्र, देखने में तो अग्नि, मिट्टी, पानी आदि का बहुत आरम्भ समारम्भ करता था, लेकिन देव ने उसमे विशेष प्रकार की उदारता और पुण्य-भावना देखी, तभी वह सकडालपुत्र की दृष्टि में आया। सांसारिक क्रिया चाहे स्वहस्त से की जावे या परहस्त से कराई जावे, उसका आरम्भ अवश्य लगता है। सांसारिक जीवन व्यतीत करता था, इसलिए इस नियम से सकडालपुत्र भी मुक्त नहीं था, लेकिन इस आजीविका के लिये किये जाने वाले अग्नि-मिट्टी आदि के आरम्भ के साथ ही हृदय की भावना को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है। यदि हृदय की भावना पर दृष्टि रखना निरर्थक हो, केवल आरम्भ ही देखा जाता हो, तो ऐसी दशा मे सकडालपुत्र के लिए देवता क्यों आया? सकडाल-

पुत्र, अग्नि पानी आदि का बहुत आरम्भ करता था, फिर भी देवता उसके यहाँ आया, इससे प्रकट है कि सकडालपुत्र जो आरम्भ करता था, उस आरम्भ की अपेक्षा उसमें आन्तरिक गुण विशेष थे। जिस प्रकार, अशुद्ध पात्र में शुद्ध वस्तु नहीं डाली जाती, उसी प्रकार जिसका हृदय मलिन एवम् ईर्ष्या-द्वेष से भरा हुआ है, उसको किसी प्रकार की सहायता देने, देवता, नहीं आया करते। देवता तभी सहायता देने आते हैं, जब हृदय में अपवित्रता न हो।

आकाशस्थित देवता ने सकडालपुत्र से कहा—हे देवानुप्रिय, कल यहाँ हम देवों के भी देव महामहान् पधारने वाले हैं। वे महा-महान, भूत भविष्य और वर्तमान काल की बात को स्पष्ट जानते हैं, तथा तीनो लोक को हस्तरेखा के समान प्रत्यक्ष देखते हैं। वे, त्रिलोकज्ञ तथा त्रिकालज्ञ हैं। तेजोमय हैं। सारा ऐश्वर्य उनके तेज में छिपा हुआ है। उनके दर्शन, तीनों लोक के प्राणी हर्ष सहित करते हैं और अपना अहोभाग्य मानते हैं। हम देवता भी उनके दर्शन करने को उत्कण्ठित रहते हैं, तथा दर्शन पाकर गद्गद् हो जाते हैं। उन महामहान को सबसे महान् मान कर तीनो लोक-स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—के प्राणियों ने उनकी महापूजा की है। वे ही त्रिलोकीनाथ तुम्हारे यहाँ आने वाले हैं। हे देवानुप्रिय, वे त्रिलोक की विभूति—महामहान जब

पधारें, तब तुम उन मंगलमय प्रभु को वन्दना करना और भक्ति-भाव-सहित अपने यहाँ लाकर शय्या संथारा आदि प्रति लाभित करना।

देवता ने यह सूचना भगवान महावीर के पधारने के विषय में दी है। भगवान् महावीर को, महामहान् इसलिए कहा जाता है कि उन्होंने 'किसी जीव को मत मारो' यह महान् उपदेश दिया था। भगवान् महावीर, तीनो काल को जाननेवाले और तीनो लोक को देखनें वाले थे। उनमें यह शक्ति, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र उत्पन्न हो जाने से प्रकट हुई थी। यद्यपि सम्यक् ज्ञान दर्शन और चरित्र, आत्मा में सदा ही विद्यमान रहते हैं, लेकिन वे कर्मों के आवरण से ढके रहते हैं। जब उन पर से कर्म रूपी आवरण हट जाता है, तब वे सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। भगवान महावीर, कर्म रूपी आवरण को नष्ट कर चुके थे, इससे उनका संपूर्णज्ञान दर्शन और चारित्र प्रकट हो गया था। आत्मा और परमात्मा में यही अन्तर है। आत्मा के सम्यक् ज्ञान दर्शन तथा चारित्र, कर्म रूपी आवरण से ढँके रहते हैं, और परमात्मा के सम्यक् ज्ञान दर्शन तथा चारित्र पर कर्म का आवरण नहीं होता। जब आत्मा अपने सम्यक् ज्ञान दर्शन और चरित्र पर से कर्म का आवरण हटा देता है, कर्मों को नष्ट कर देता है, तब वह परमात्मा बन जाता है।

"बौद्ध पर्व" नामकी ऐतिहासिक पुस्तक में लिखा है, कि सिंहल भाषा में जो बौद्ध ग्रन्थ है, उसके अनुसार उस समय में पूर्णकाश्यप, मंखलीपुत्र–गोशालक, अजित केश कंवल, कुकुध-कात्यायन, संजय वेलाट्ठिपुत्र, और निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र, ये छः तीर्थ-ङ्कर थे। हो सकता हैं कि उक्त पुस्तक की बात सही हो, लेकिन यह बात निर्विवाद है कि भगवान महावीर का तीर्थङ्कर पद जिस प्रकार सर्वज्ञ आदि विशेषणों और गुणों से विभूषित था, वैसा दूसरे किसी का नहीं था। भगवान महावीर का नाम निर्ग्रंथज्ञात पुत्र भी है। देवता ने भगवान महावीर का जो परिचय दिया है, वह उनके विशेषणों सहित दिया है।

देवता ने, भगवान महावीर के पधारने की सूचना देते हुए सकडाल पुत्र से कहा है, कि उन महामहान की पूजा, तीनो लोक के प्राणियों ने की है। देवता के इस कथन का यह अर्थ नहीं है, कि तीनों लोक के प्राणियों ने भगवान की पूजा जल, पुष्प, धूप दीप आदि से की हो। इस प्रकार से पूजा की जाने पर तो, भगवान महावीर के 'महामहान' विशेषण की सार्थकता ही जाती रहेगी। क्योंकि, 'मत मारो' उपदेश जल, अग्नि, वनस्पति आदि के जीवों के लिये भी है। जल, पुष्प आदि से पूजा की जाने पर, इनमें के जीव अवश्य ही मरेंगे, जिनको अपने लिये मरने देना भगवान को कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। इसके सिवा,

पूजा, पूज्य के अनुसार हुआ करती है। संसार में भी देखा जाता है, कि लोग ठाकुरजी की पूजा चन्दन, पुष्प आदि से करते हैं और भैरोंजी की पूजा, तेल बाकले आदि से। तेल बाकले से ठाकुरजी की पूजा करना, ठाकुरजी की अवज्ञा मानी जाती है। इसी प्रकार जिन भगवान ने संसार के किसी भी जीव को न मारने का उपदेश दिया है, उनकी पूजा जल पुष्प आदि से करके उनमें के जीवों का नाश करना—पूजा के नाम पर—भगवान की अवज्ञा होगी। इसलिये देवता के कथन का यह अर्थ—कि जल पुष्प आदि से भगवान की पूजा की—कदापि नहीं हो सकता। भगवान महावीर की पूजा किस प्रकार की जाती थी, इसके लिये औपपातिक सूत्र में प्रमाण मिलता है। भगवान महावीर के परम भक्त राजा कोणिक ने भगवान की पूजा की है, उसका वर्णन औपपातिक सूत्र में निम्न प्रकार से है :—

समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ तंजहा—सच्चित्ताणं दव्वाणं वीउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडियं उत्तरासगं करणेणं, चक्खु फासे अंजलि पग्गहेणं मणसोएगत्तभाव करणेणं, समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदंति णमंसित्ता, तिविहाए पज्जुवासणयाए पज्जुवासंति तंजहा काइया वाइया माणसियाए-काइयातात्र संकु-

इयागहत्थपाए सुस्सुसमाणे णमसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासंति, वाइयाएजंजं भगवंत वागरेइ तंतं एहमेयं भंते! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भते! असंदिद्धमेयं भंते! इच्छियमेयं भते! पडिच्छियं मेयं भंते! इच्छियपडिच्छियमेयं भंते! से जहेणं तुज्झे वदह अपडिकूलमाणे पज्जुवासंति, माणसियाए महता संवेगंजणइत्ता, तिव्व धम्माणुरागरत्ते पज्जुवासंति ॥

अर्थात्—राजा कोणिक, पाँच अभिगम करके भगवान महावीर के पास गया। वे पाँच अभिगम इस प्रकार हैं—१ पान फूल आदि सचित द्रव्य दूर किये; २ अचित द्रव्य-वस्त्राभूषणादि—पास ही रखे; ३ एक पट—दुपट्टे—का उत्तरासंग किया; ४ भगवान को देखते ही दोनों हाथ जोड़ कर अपनी आँखों के पास लगा लिए, और ५ मन को दूसरी ओर से रोक कर भगवान की भक्ति में एकीभाव किया। इस प्रकार पाँच अभिगम करके राजा कोणिक श्रमण भगवान महावीर के पास गया और श्रमण भगवान महावीर को तिक्खुत्ता के पाठ से वन्दना नमस्कार किया तथा तीन प्रकार से मन से, वचन से, शरीर से—प्रभु की पूजा-भक्ति करने लगा। शरीर मन और वचन से कोणिक राजा ने इस प्रकार उपासना की। हाथ पाँव सिकोड़ कर, दोनों हाथ जोड़ नम्रता तथा विनय-पूर्वक भगवान के सामने बैठ गया और भगवान की सुश्रुषा करने लगा। इस प्रकार शरीर से भक्ति-उपासना करने लगा। जैसे जैसे भगवान वचन उचारते थे, वैसे-वैसे—हे भगवान! ऐसा ही है, हे भगवान! तथ्य है, हे भगवान्! अवश्य ही सत्य है; हे भगवान! सन्देह रहित है; हे भगवान! मैं इच्छता

हूँ, हे भगवान! मैं विशेष इच्छता हूँ और आपने जो कुछ कहा, वह अप्रतिकूल है—कह कर भगवान् की वचन द्वारा सेवा-भक्ति करने लगा। मन में महान् वैराग्य भाव धारण करके, एवं तीव्र धर्मानुरागरक्त बनकर, मन द्वारा भगवान की सेवाभक्ति करने लगा।

इस पाठ से प्रकट है, कि भगवान महावीर की पूजा तीन प्रकार से की जाती थी। मानसिक, वाचिक, और कायिक। मन में उनका ध्यान करना, स्मरण करना—मानसिक पूजा है। वचन से उनके गुणगान करना, वाचिक पूजा है और पांचों अंग झुका कर नम्रता पूर्वक नमस्कार करना, कायिक पूजा है।

भगवान वीतराग की पूजा, इसी प्रकार होती है। जो पदार्थ राग पैदा करने के कारण माने जाते हैं, उन्हें वीतराग भगवान पर चढ़ाना, या भेंट करना, पूजा नहीं, किन्तु उनकी अवज्ञा है। राग पैदा करने वाली वस्तुओं को तो, भगवान पहले ही त्याग चुके हैं। उन त्यागी हुई वस्तुओं को, जिनने त्यागी है उन्हीं पर चढ़ाना, उनकी पूजा नहीं है।

सकडालपुत्र को, भगवान महावीर के पधारने की उक्त प्रकार से सूचना देकर, देवता चला गया। इधर सकडालपुत्र, देवता की सूचना पर से-विचार करने लगा, कि देवता ने जिन महामहान के आने की सूचना दी है, वे महामहान मेरे गुरु गोशालक के सिवा दूसरे कौन हो सकते हैं? सकडालपुत्र, गोशालक का

पूर्ण-भक्त था, इसलिये देवता ने—भगवान् महावीर के लिये, जो विशेषण कहे थे, वे सब विशेषण उसे गौशालक के लिये ही जान पड़े। वह, रात भर यह विचारता हुआ प्रसन्न रहा, कि कल मेरे प्रभु गौशालक पधारने वाले हैं! मैं उन्हें वन्दना नमस्कार करूंगा।

यह बात दूसरी है, कि सकडालपुत्र एक मिथ्या मत का अनुयायी था और जिस गौशालक के प्रति उसके हृदय में भक्ति है, वह गौशालक, उस मिथ्या-मत का संस्थापक एवम् प्रचारक था, इसलिये सकडालपुत्र की श्रद्धा-भक्ति मिथ्या है, लेकिन उसके हृदय में गौशालक के प्रति जो श्रद्धा-भक्ति है, वह दृढ़ता की अपेक्षा से अनुकरणीय है। सकडालपुत्र की यह अनुकरणीय भक्ति की धारा, थोड़े ही समय में भगवान महावीर की ओर बहने लगेगी, उस समय इसकी यह श्रद्धा-भक्ति शुद्ध और सत्य होगी। अभी सकडालपुत्र की श्रद्धा-भक्ति, मिथ्या अवश्य है, लेकिन उसके हृदय का गुरु-प्रेम—उसके हृदय की नम्रता एवम् सरलता बिना सराहे नहीं रहा जा सकता। उसकी यह श्रद्धा-भक्ति, इस बात की शिक्षा देती है कि जब सकडालपुत्र अपने मिथ्या मत के संस्थापक-गुरु के प्रति इतनी भक्ति रखता था, तो सत्य-धर्म-प्रचारक गुरु के प्रति लोगों की श्रद्धा-भक्ति कैसी होनी चाहिए!

दूसरे दिन पोलासपुर नगर के वाहर, सहस्राम्र-वन नाम के उद्यान में भगवान महावीर पधारे। आकाश में घूमनेवाले धर्म-चक्र एवम् वनपालादि द्वारा नगर-निवासियों को भगवान के पधारने की सूचना मिली। नगर मे से, नर-नारियों के झुण्ड भगवान के दर्शन करने के लिए सहस्राम्र-वन उद्यान की ओर चले। सकडालपुत्र को खबर मिली, कि सहस्राम्र-वन उद्यान में, श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं। यह खबर पाकर सकडालपुत्र भी, स्नानादि से निवृत्त हुआ और मंगल वस्त्र तथा बहुमूल्य आभूषण पहिन कर, दर्शन करने के लिए जाते हुए मनुष्यों के साथ सहस्राम्रवन-उद्यान की ओर चल पड़ा!

भगवान के दर्शन करने जाते समय-गृहस्थों के लिए—स्नान से निवृत्त होने का पाठ, शास्त्र में स्थान-स्थान पर मिलता है। इससे प्रकट है, कि उस समय के लोग—गृहस्थ होने के कारण, स्नान किया करते थे, लेकिन श्रावक लोग. अपने लिए यह नियम वना लेते थे, कि मैं स्नान में इतने परिमाण से अधिक पानी व्यय न करूँगा। जैसे कि आनन्द श्रावक ने, भगवान से नियम ले लिया था। भगवान का यह उपदेश है, कि गृहस्थ, प्रत्येक वस्तु के भोगोपभोग की सीमा कर ले। सीमा कर लेने पर, सांसारिक काम भी नहीं रुकते, वस्तु का दुरुपयोग भी नहीं होता, लालसा भी सीमित हो जाती है और आरम्भ भी अधिक नहीं होता।

शास्त्रों में, स्नान से निवृत्त होने के पाठ के साथ ही मंगल-
वस्त्र पहिनने का पाठ भी पाया जाता है। मंगल-वस्त्र का मतलब,
वे वस्त्र हैं, जो मंगल के द्योतक हों। संसार में आज भी दो
प्रकार के वस्त्र देखे जाते हैं; एक मांगलिक और दूसरे अमांग-
लिक। यूरोपियनों में जब कोई मर जाता है, तब वे लोग
काले वस्त्र पहिना करते हैं। उनमें काले वस्त्र पहिनना,
अमंगल-सूचक है। इसके विपरीत जो वस्त्र पहिने
जाते हैं, वे अमङ्गल के द्योतक नहीं माने जाते। भारत में भी,
सिर पर सफेद और अस्त-व्यस्त वस्त्र बाँधना, अमंगल का
सूचक माना जाता है और पीले वस्त्र पहिनना, मंगल माना
जाता है। इसी प्रकार की कोई पद्धति पूर्व समय में भी रही
होगी, इसीसे भगवान महावीर के पधारने पर, अपनी प्रसन्नता
प्रकट करने के लिए तथा, भगवान का पधारना हमारे लिये
मंगल-प्रद है, यह जताने के लिये उस समय के लोग देश-काल-
प्रचलित मंगल वस्त्र पहिना करते थे।

सहस्राम्रवन उद्यान में पहुँच कर, सकडालपुत्र ने देवता के
कथनानुसार-भगवान महावीर को प्रदक्षिणा सहित वन्दना
नमस्कार किया।

सब लोगों के वन्दना-नमस्कार कर चुकने और यथा-स्थान
बैठ जाने पर, भगवान महावीर अपनी पवित्र वाणी से सबको

उपदेश देने लगे। भगवान की वाणी से उस समय किस उपदेश की धारा बही थी, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन भगवान की सकडालपुत्र से फिर जो बात-चीत हुई, उस पर से—अनुमानतः भगवान ने निम्न उपदेश फ़रमाया था—

ऐ संसार के प्राणियो! आज तुम लोग जिस संसार में भूल रहे हो, उस संसार से तुम्हारा हित नहीं हो सकता। संसार, क्षण-भंगुर और अनित्य है—इसके प्रत्येक पदार्थ जड़ हैं-लेकिन तुम अविनाशी तथा चैतन्य हो। चैतन्य एवम् अविनाशी होकर नाशवान जड़ को अपना मानना, महान् भूल है। तुम्हारा हित तभी होगा, जब तुम संसार के पदार्थों को जड़, नश्वर, एवम् सार-रहित मान कर इनसे मोह छोड़ दो और अपने चैतन्य-स्वरूप पर विचार करो। अपनी चैतन्यता का विचार करते रहने पर एक दिन वह होगा, जब तुम जीवन-मुक्त होजाओगे। जीवन-मुक्त होने पर, न तो तुम्हे इस संसार में पुनः-पुनः जन्म लेना पड़ेगा, न मरना पड़ेगा, न इसमें होनेवाले संयोग-वियोगादि के, दुःख ही उठाने पड़ेंगे। इसलिये, संसार से मोह छोड़कर, अपने चैतन्य-रूप पर विचार करो।

संसार से मोह छूटने और अपने चैतन्य रूप पर विचार करने की क्षमता, संयम से होती है। संयम, मन तथा इन्द्रियों के निरोध से होता है, और मन तथा इन्द्रियों का निरोध, त्याग-

लालसाओं को सीमित करने से होता है। त्याग, धर्म की शरण लेने से ही हो सकता है। धर्म को समझकर उसे अपनाने पर, त्याग की वृद्धि होगी, लालसाएँ सीमित होंगी और मन, वश में रहेगा। मन वश में होने पर इन्द्रियें अपने विषयों की ओर न दौड़ेंगी और ऐसा होने पर—धीरे-धीरे—संसार से मोह छूटता जावेगा। संसार से जैसे-जैसे मोह छूटता जावेगा, आत्मचिन्तन की क्षमता वैसे-ही-वैसे अधिक होगी। जब मोह पूरी तरह नष्ट हो जावेगा, तथा आत्मा अपने रूप को भली प्रकार जान लेगा, तब आत्मा जीवन-मुक्त हो जावेगा—अर्थात् ऐसी अवस्था में पहुँच जावेगा, जिसमें न भय है, न शोक और न रोग है, न दुःख। इस अवस्था में पहुँचा हुआ आत्मा, 'सिद्ध' कहाता है। यह सिद्धावस्था प्राप्त होने का मूल उपाय, धर्म की सेवा है, इसलिये धर्म को अपनाओ।

तुम कहोगे, कि धर्म किसे कहते हैं, और हम उसे क्यों कर पहिचानें? इसका उत्तर यह है कि, जो आत्मा को दुर्गति में पड़ने से बचा कर सुगति प्राप्त करावे, एवम् जो राग-द्वेष रहित—वीतराग—का कहा हुआ हो, उसका नाम 'धर्म' है। उन समस्त सद्भावों का समावेश धर्म में हो जाता है, जिन्हें आत्मा, निःस्वार्थ और निष्पक्ष होकर, समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझता हुआ, एवम् किसी को कष्ट में न डालता हुआ, करे। धर्म की यह व्या-

ख्या, संक्षिप्त में ही बतलाई है, पूर्ण व्याख्या समझने-समझाने के लिये तो विशेष समय की आवश्यकता है।

धर्म में, पुरुषार्थ प्रधान है। बिना पुरुषार्थ, किसी भी कार्य में सिद्धि नहीं मिलती, तो धर्म में—बिना पुरुषार्थ—सिद्धि कैसे मिलेगी? यद्यपि कुछ लोग, ईश्वर, काल, स्वभाव और होनहार को कर्त्ता अवश्य मानते हैं, लेकिन दूसरे को कर्त्ता मान कर आप बैठे रहना—अपने-आपको कर्तृत्व से मुक्त समझना—भूल है। काल, स्वभाव और होनहार, को लोग जड़ मानते हैं। जड़ अपने-आपको ही नहीं समझता, तो वह कार्य सम्पादन में समर्थ कैसे हो सकता है? रही ईश्वर की बात। ईश्वर, कोई व्यक्ति विशेष नहीं है, और वैसे सभी आत्मा ईश्वर हैं, लेकिन पूर्ण ईश्वर वही आत्मा है, जो राग-द्वेष रहित हो गया है। यदि संसार के सब प्राणी राग-द्वेष रहित हो जावें तो सभी प्राणी ईश्वर बन जावें। इस सांसारिक आत्मा की अपेक्षा से तो ईश्वर कर्त्ता हो सकता है, लेकिन यदि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा से भिन्न माना जावे, तो यह भूल भी है और इस प्रकार के ईश्वर को कर्त्ता मानने से अनेक बाधाएँ भी होंगी। ईश्वर, आत्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु कर्म-बन्धन रहित शुद्ध आत्मा ही ईश्वर है। इसलिए प्रत्येक प्राणी, अपने सुख-दुःख हानि-लाभ आदि का कर्त्ता है। यह बात दूसरी है, कि निमित्त रूप से दूसरे भी कर्त्ता हो, लेकिन प्रधान

कर्त्ता आत्मा ही है। कर्त्ता, प्रत्येक—अच्छे या बुरे—कार्य, पुरुषार्थ से ही कर सकता है, इसलिये धर्म में भी पुरुषार्थ ही प्रधान है। अतः आत्मा को कर्त्ता और पुरुषार्थ को प्रधान साधन मानकर धर्म की शरण आओ, जिससे तुम्हारा कल्याण हो और संसार-विच्छेद करके मुक्ति प्राप्त कर सको।

भगवान का उपदेश समाप्त हो चुकने पर, चारों ओर धन्य-धन्य और जय-जय की ध्वनि होने लगी। सब श्रोता, भगवान के उपदेश को सुनकर आल्हादित थे, लेकिन सकडालपुत्र कुछ और ही सोच रहा था। वह सोच रहा था, कि देवता ने किन महामहान् के आगमन की सूचना दी थी? क्या उसने इन—श्रमण भगवान महावीर—के लिये ही मुझसे कहा था, कि वन्दना-नमस्कार करना और स्थान, पाट-पाटले आदि प्रतिलाभना? मैं तो सोचता था, कि देवता ने मेरे धर्माचार्य—गोशालक—के पधारने की सूचना दी है, लेकिन जान पड़ता है कि देवता ने उनके विषय में नहीं, किन्तु इन्हीं के विषय में सूचना दी थी। क्योंकि, यदि वह सूचना मेरे गुरु के विषय में होती, तो वे—मेरे गुरु गोशालक—अवश्य पधारते। वे नहीं पधारे और श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं, इसलिये निश्चय ही, देवता की दी हुई सूचना, मेरे गुरु के विषय में नहीं थी, इन्हीं के विषय में थी। यद्यपि ये मेरे गुरु नहीं हैं, फिर भी देवता के कथनानु-

सार मुझे इनकी सेवा करनी चाहिए।

सकडालपुत्र, अपने मन में इस प्रकार के संकल्प-विकल्प कर रहा था, इतने ही में भगवान महावीर ने सकडालपुत्र से पूछा कि, सकडालपुत्र, कल जब तू अपनी अशोकवाटिका में बैठा था, तब—क्या तेरे पास एक देव आया था और उसने महामहान् के आगमन की सूचना देकर तेरे से यह भी कहा था, कि उन महामहान् को वन्दना-नमस्कार करना, तथा भात, पानी, पाट आदि प्रतिलाभना ?

भगवान का प्रश्न सुनकर, सकडालपुत्र चकित रह गया। उसने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया कि—हाँ भगवन्, देवता आया था और उसने ऐसा कहा था। सकडालपुत्र का उत्तर सुनकर, भगवान ने उससे कहा कि—उस देवता के चले जाने पर, तेरे मन में ये विचार भी आये थे कि, देवता के कहे हुए गुण, मेरे गुरु गौशालक में ही हो सकते हैं, लेकिन हे सकडालपुत्र, देवता ने गौशालक का आगमन नहीं दर्शाया था, यह तू निश्चय समझ।

सकडालपुत्र को, यह विचार कर आश्चर्य हो रहा था, कि भगवान ने इन अप्रकट बातों को कैसे जान लिया! अप्रकट बात भगवान से सुनकर, सकडालपुत्र को विश्वास हो गया, कि भगवान महावीर ही महामहान्, उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक और

तथ्यकर्म से प्राप्त सम्पदा से समृद्ध हैं, तथा देवता ने कल इन्हीं के विषय में सूचना दी थी। देवता की सूचनानुसार इनसे, मेरी दूकान पर पधारने की प्रार्थना करनी चाहिए।

सकडालपुत्र ने, भगवान महावीर को वन्दना-नमस्कार करके, उनसे प्रार्थना की कि, नगर के बाहर मेरी पाँचसौ दूकाने हैं; कृपा करके आप वहाँ पधारिए, वहाँ आपको सब प्रकार से सुविधा होगी।

सकडालपुत्र की विनम्र-प्रार्थना देख-सुनकर, भगवान ने उसके यहाँ पधारना स्वीकार किया और पधारे। सकडालपुत्र की निर्दोष दूकान में भगवान विराजे। देवता के कथनानुसार, सकडालपुत्र ने पाट-पाटले आदि प्रतिलाभ कर, भगवान की सेवा की।

भगवान, त्रिलोकीनाथ हैं, लेकिन उनका एक छोटे-से-छोटा भक्त भी, उन्हें वश में कर लेता है। उनके पास, जाति-पाँति या ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है। यदि भगवान, जाति-पाँति या ऊँच-नीच का भेद मानते होते, तो जिनकी सेवा के लिये इन्द्र भी लालायित रहता है, वे भगवान, सकडालपुत्र ( जो जाति का कुम्हार है ) के यहाँ न पधारते। भगवान, सर्वज्ञ हैं, वे यह जानते हैं कि इसके यहाँ अग्नि, पानी, मिट्टी, पाक पूमने आदि का बहुत आरम्भ होता है, और सकडालपुत्र ने यह भी प्रकट कर दिया था कि, मेरी पाँचसौ दूकानें हैं, फिर भी भगवान ने

उसके यहाँ पधारने और विराजने मे, इस आरम्भ का विचार नहीं किया। इससे प्रकट है, कि भगवान ने सकडालपुत्र के इस आरम्भ की अपेक्षा उसमें आन्तरिक गुण विशेष देखे। यदि ऐसा न होता, तो भगवान उसके यहाँ पधारते ही क्यों ? उसके यहाँ भगवान यह दृष्टि में रख कर ही पधारे होंगे, कि सांसारिक-जीवन, निरारम्भी नहीं हो सकता, हाँ, अल्पारम्भी हो सकता है और सकडालपुत्र का जीवन, महारम्भी नहीं है। तथा इस आरंभ के साथ ही इसमें आन्तरिक गुण विशेष हैं।

भगवान, सकडालपुत्र के यहाँ पधारे इससे यह शिक्षा मिलती है कि, जाति-पाँति या सूक्ष्म हिंसा के कारण किसी से घृणा करना—किसी को पापी कहना—उचित नहीं है।

भगवान की सेवा से अवकाश प्राप्त करके, सकडालपुत्र अपना कार्य करने लगा। उसने, मिट्टी के—चाक द्वारा बनाये हुए—कच्चे बर्तन—धूप और वायु द्वारा सुखाने के अभिप्राय से-घर में से निकालकर बाहर रखे।

यद्यपि, सकडालपुत्र के यहाँ पर्याप्त नौकर-चाकर थे, लेकिन वह स्वयं भी कार्य करता था। केवल नौकरों के भरोसे, या पूँजी के आधार पर ही उसका जीवन न था। पूर्व समय के लोग अपना व्यवसाय नौकरों के ही आधार पर नहीं छोड़ देते थे, न यह विचार कर अकर्मण्य ही बन जाते थे, कि हमारी सम्पत्ति

से कारोबार हो रहा है, इसलिये हम काम क्यों करें। जिस समय ऐसा था, उस समय—आज की तरह—पूँजीपतियों के प्रति श्रमजीवियों के हृदय में द्वेष भी नहीं होता था। क्योंकि, जिस प्रकार श्रमजीवी काम करते थे, उसी प्रकार उनके स्वामी पूँजीपति—भी काम करते थे और जिस रहन-सहन से पूँजीपति अपना जीवन-निर्वाह करते थे, उसी रहन-सहन से अपने यहाँ काम करनेवालों के जीवन-निर्वाह का भी ध्यान रखते थे।

भगवान, जानते थे कि, सकडालपुत्र, गोशालक का अनुयायी है और होनहार को माननेवाला है। सकडालपुत्र की इस मान्यता को छुड़ाकर, उसके हृदय में पुरुषार्थवाद की स्थापना करने के उद्देश्य से ही, भगवान, सकडालपुत्र के यहाँ पधारे थे। भगवान, अपनी सर्वज्ञता से यह जानते थे, कि अब सकडालपुत्र के मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का अन्त हो रहा है, इसलिये इस समय इसे सच्चे धर्म का स्वरूप बताने पर, यह उसे धारण कर लेगा। भगवान ने यह जानते हुए भी सकडालपुत्र को समझाने का पुरुषार्थ किया. होनहार के भरोसे नहीं रहे।

जिस समय, पाक से उतारे हुए मिट्टी के कच्चे बर्तन बाहर धूप में रखे थे, उस समय भगवान ने सकडालपुत्र को समझाने के लिये उपयुक्त समझा। भगवान ने, सकडालपुत्र से पूछा कि—सकडालपुत्र, ये मिट्टी के बर्तन किस प्रकार बने हैं?

जो भगवान, त्रिलोकज्ञ और त्रिकालज्ञ हैं, क्या वे यह नहीं जानते कि मिट्टी के वर्तन किस प्रकार बनते हैं ? वे, सब-कुछ जानते थे—उनसे कोई बात छिपी हुई नहीं थी—लेकिन उद्देश्य की सिद्धि के लिये भागवान ने, सकडालपुत्र के मुख से ही यह कहलाना उचित समझा, कि ये वर्तन किस प्रकार बने हैं ?

भगवान के प्रश्न के उत्तर में, सकडालपुत्र ने कहा कि—भगवान, इन वर्तनों को बनाने के लिये पहले मिट्टी लाई गई। उस मिट्टी में, राख आदि मिलाई गई और पानी से भिगो कर वह खूब रौंदी गई। जब मिट्टी, वर्तन बनाने के योग्य हो गई, तब उसे चाक पर रखकर ये वर्तन बनाये गये।

भगवान ने, सकडालपुत्र से पूछा कि—सकडालपुत्र, ये मिट्टी के वर्तन, पुरुषार्थ से बने हैं, या विना पुरुषार्थ ही बने हैं?

भगवान का यह प्रश्न सुनकर, सकडालपुत्र को अपनी मान्यता का ध्यान आगया। वह समझ गया कि, भगवान महावीर, मेरे गुरु के सिद्धान्त के स्थान पर, अपना सिद्धान्त सिद्ध करना चाहते हैं। वह, भगवान के प्रश्न के उत्तर में कहने लगा कि—भगवान, जो कुछ भी होता है, वह सब होनहार से ही होता है, पुरुषार्थ से कुछ नहीं होता। मिट्टी के वर्तन बनाने में हमने जो-कुछ किया है, वह सब होनहार के वश होकर। इसलिये, ये मिट्टी के वर्तन, पुरुषार्थ के अभाव और होनहार के

सद्भाव में बने हैं।

सकडालपुत्र से भगवान फिर कहने लगे कि—सकडालपुत्र, तू ने अभी जो-कुछ कहा है, उससे तो पुरुषार्थ की ही सिद्धि होती है। ये मिट्टी के बर्तन, पहले नहीं थे, किन्तु बनाने से बने हैं, और जब बनाने से बने हैं, तो इनके बनाने में क्रिया अवश्य ही की गई है। क्रिया है, तो कर्त्ता भी अवश्य है। क्योंकि, बिना कर्त्ता के क्रिया नहीं हो सकती और बिना क्रिया के, कर्म नहीं होता। क्रिया, कर्त्ता के पुरुषार्थ से ही होती है, पुरुषार्थ के अभाव में क्रिया नहीं होती। इस प्रकार इन बर्तनों के बनने में पुरुषार्थ की ही प्रधानता है। कारण के होने पर कर्त्ता के पुरुषार्थ से ही कार्य होता है। प्रत्येक कार्य में कारण और कर्त्ता की आवश्यकता है। इन बर्तनों को बनाने के लिये जो मिट्टी लाई गई वह मिट्टी बर्तनों का—उपादान-कारण है। फिर मिट्टी में राख आदि मिलाई गई, तथा पानी डाल कर रौंदी गई। इस बर्तन बनाने के लिए तैयार मिट्टी को 'बर्तन' नहीं कह सकते, हाँ, पानी राख आदि, बर्तन के निमित्त—कारण अवश्य हैं। फिर मिट्टी को चाक पर रख कर, कर्त्ता द्वारा विशेष प्रकार की क्रिया की गई, तब बर्तन बने। बर्तन बनाने में, चाक भी निमित्त—कारण रहा। इस प्रकार, उपादान-कारण, निमित्त-कारण, तथा कर्त्ता के होने से बर्तन बने हैं और कर्त्ता द्वारा की गई बर्तन बनाने की

जो भगवान, त्रिलोकज्ञ और त्रिकालज्ञ हैं, क्या वे यह नहीं जानते कि मिट्टी के बर्तन किस प्रकार बनते हैं ? वे, सब-कुछ जानते थे—उनसे कोई बात छिपी हुई नहीं थी—लेकिन उद्देश्य की सिद्धि के लिये भागवान ने, सकडालपुत्र के मुख से ही यह कहलाना उचित समझा, कि ये बर्तन किस प्रकार बने हैं ?

भगवान के प्रश्न के उत्तर में, सकडालपुत्र ने कहा कि—भगवान, इन बर्तनों को बनाने के लिये पहले मिट्टी लाई गई। उस मिट्टी में, राख आदि मिलाई गई और पानी से भिगो कर वह खूब रौंदी गई। जब मिट्टी, बर्तन बनाने के योग्य हो गई, तब उसे चाक पर रखकर ये बर्तन बनाये गये।

भगवान ने, सकडालपुत्र से पूछा कि—सकडालपुत्र, ये मिट्टी के बर्तन, पुरुषार्थ से बने हैं, या बिना पुरुषार्थ ही बने हैं?

भगवान का यह प्रश्न सुनकर, सकडालपुत्र को अपनी मान्यता का ध्यान आगया। वह समझ गया कि, भगवान महावीर, मेरे गुरु के सिद्धान्त के स्थान पर, अपना सिद्धान्त सिद्ध करना चाहते हैं। वह, भगवान के प्रश्न के उत्तर मे कहने लगा कि—भगवान, जो कुछ भी होता है, वह सब होनहार से ही होता है, पुरुषार्थ से कुछ नहीं होता। मिट्टी के बर्तन बनाने में हमने जो-कुछ किया है, वह सब होनहार के वश होकर। इसलिये, ये मिट्टी के बर्तन, पुरुषार्थ के अभाव और होनहार के

सद्भाव में बने हैं।

सकडालपुत्र से भगवान फिर कहने लगे कि—सकडालपुत्र, तू ने अभी जो-कुछ कहा है, इससे तो पुरुषार्थ की ही सिद्धि होती है। ये मिट्टी के बर्तन, पहले नहीं थे, किन्तु बनाने से बने हैं, और जब बनाने से बने हैं, तो इनके बनाने में क्रिया अवश्य ही की गई है। क्रिया है, तो कर्त्ता भी अवश्य है। क्योंकि, बिना कर्त्ता के क्रिया नहीं हो सकती और बिना क्रिया के, कर्म नहीं होता। क्रिया, कर्त्ता के पुरुषार्थ से ही होती है, पुरुषार्थ के अभाव में क्रिया नहीं होती। इस प्रकार इन बर्तनों के बनने में पुरुषार्थ की ही प्रधानता है। कारण के होने पर कर्त्ता के पुरुषार्थ से ही कार्य होता है। प्रत्येक कार्य में कारण और कर्त्ता की आवश्यकता है। इन बर्तनों को बनाने के लिये जो मिट्टी लाई गई वह मिट्टी बर्तनों का—उपादान-कारण है। फिर मिट्टी में राख आदि मिलाई गई, तथा पानी डाल कर रौंदी गई। इस बर्तन बनाने के लिए तैयार मिट्टी को 'बर्तन' नहीं कह सकते, हाँ, पानी राख आदि, बर्तन के निमित्त—कारण अवश्य हैं। फिर मिट्टी को चाक पर रख कर, कर्त्ता द्वारा विशेष प्रकार की क्रिया की गई, तब बर्तन बने। बर्तन बनाने में, चाक भी निमित्त—कारण रहा। इस प्रकार, उपादान-कारण, निमित्त-कारण, तथा कर्त्ता के होने से बर्तन बने हैं और कर्त्ता द्वारा की गई बर्तन बनाने की

क्रिया, पुरुषार्थ से ही हुई है। इसलिये, इन मिट्टी के वर्तनो को वनाने में, पुरुषार्थ की ही प्रधानता है।

सकडालपुत्र ने, भगवान की वात सुनकर भी यही कहा कि भगवान, इन वर्तनों के वनने में पुरुषार्थ की प्रधानता नहीं है, किन्तु होनहार की ही प्रधानता है। ये वर्तन, भवितव्यता से ही वने हैं।

भगवान ने सकडालपुत्र से कहा कि, यदि ये वर्तन होनहार से ही वने हैं–इनके वनने में पुरुषार्थ का अभाव है–तो एक प्रश्न होता है। वह यह कि, यदि कोई आदमी, इन वर्तनो को चुरा जावे, इधर-उधर विखेर दे, या इनको फोड़ डाले, तो तू उस आदमी के साथ कैसा व्यवहार करेगा ? या तेरी जिस अग्नि-मित्रा स्त्री को जिसे तू बहुत प्यार करता है, उसपर कोई पुरुष वलात्कार करे, तो तू उस पुरुष पर क्रुद्ध तो न होगा ?

भगवान का अन्तिम प्रश्न सुन कर, सकडालपुत्र ने—पति-कर्त्तव्य के आवेश में उत्तर दिया कि, हे भगवान, ऐसे दुष्ट पर मैं अवश्य ही क्रोध करूँ, उसे दण्ड दूँ, लात, घूसे तथा लकड़ी से उस दुराचारी को मारूँ और आवश्यकता समझने पर, उसको जीवन-रहित भी कर डालूँ।

सकडालपुत्र का उत्तर सुन कर, भगवान ने उससे कहा कि सकडालपुत्र, तेरा ऐसा करना तो तेरे सिद्धान्त के विरुद्ध होगा

न ? क्योंकि, तू अभी कह चुका है कि, जो-कुछ होता है, वह होनहार से ही होता है। जब तेरे कथनानुसार सब-कुछ होनहार से ही होता है, तब उस वर्तन चुराने, फोड़ने, फेंकनेवाले या तेरी स्त्री के साथ दुराचार करनेवाले का अपराध ही क्या रहा, जो तू उसे इस प्रकार का दण्ड दे ? उसने जो-कुछ किया है, वह तेरे सिद्धान्तानुसार—होनहार के वश होकर; फिर उसे, तेरे द्वारा दण्ड मिलने का क्या कारण ? यदि तू ऐसे व्यक्ति को दण्ड दे, तब तो तूने होनहारवाद को नहीं माना, किन्तु पुरुषार्थवाद को माना। यदि तूने उसे दण्ड दिया, तब तो तेरा माना हुआ होनहारवाद झूठा ठहरता है !

भगवान की इस बात ने, सकडालपुत्र का हृदय हिला दिया। वह, विचार में पड़ गया और अन्त में इसी निश्चय पर पहुँचा, कि वास्तव में, होनहार के आश्रित रहकर हम कुछ नहीं कर सकते, लेकिन पुरुषार्थ के द्वारा हम सब-कुछ कर सकते हैं। होनहारवाद से तो, जीवन में आलस्य और अकर्मण्यता आती है।

पुरुषार्थवाद का बोध पाकर, सकडालपुत्र ने भगवान को वन्दना-नमस्कार किया और प्रार्थना की कि मैं आपकी युक्तियों से सहमत होकर, पुरुषार्थवाद को प्रधान एवम् उपादेय तथा होन-हारवाद को हेय मानता हूँ। अब मेरी इच्छा, आपका कहा हुआ धर्म सुनने की है, इसलिए कृपा करके मुझे धर्म सुनाइए।

सकडालपुत्र की प्रार्थना पर, भगवान ने उसको धर्म सुनाना प्रारम्भ किया। यद्यपि भगवान के कहे हुए धर्मोपदेश को और लोगों ने भी सुना, लेकिन इस समय सकडालपुत्र ही प्रधान श्रोता था, इसलिए, सकडालपुत्र को सम्बोधन करके, भगवान फर्माने लगे—

हे सकडाल पुत्र! दुर्गति से निकालकर सुगति में पहुँचाने वाला, धर्म ही है। धर्म की सहायता विना, प्राणी, दुर्गति से नहीं निकल सकता, न सद्गति को ही प्राप्त कर सकता है।

परलोक के लिये हितकारी धर्म के मुख्यतः दो भेद हैं, सूत्र-धर्म और चारित्र्य-धर्म। सूत्रधर्म का आचरण निग्रन्थ प्रवचनों पर श्रद्धा करना है। धर्म का प्रधान अंग श्रद्धा ही है। जबतक धर्म पर श्रद्धा न हो, तब तक, धर्म सम्बन्धी की गई क्रियाएँ भी पूरी तरह सार्थक नहीं होतीं। इसलिये केवली प्ररूपित धर्म के आचरण में सब से पहिला कार्य है, निग्रन्थ प्रवचनों पर श्रद्धा करना। धर्म के दूसरे भेद चारित्र धर्म के दो भेद हैं, एक आगार धर्म और दूसरा अनगार धर्म। आगार धर्म वह है जो सांसारिक कार्य करते हुए भी पाला जा सके, और अनगार धर्म वह है, जो सांसारिक कार्यों को त्याग कर पाला जा सके। आगार धर्म का पालन करने वाले सांसारिक कामों को करते हुए धीरे-धीरे सुगति की ओर अग्रसर होते हैं और अनगार धर्म का पालन करनेवाले, संसार के समस्त कार्य त्याग कर, केवल मोक्ष-प्राप्ति के ही प्रयत्न

में जुटे रहते हैं। मोच की पहिली सीढ़ी, आगार धर्म है। और दूसरी सीढी अनगार धर्म है। जो लोग, धर्म से दूर हैं, उन्हें अपनी शक्ति का विचार करके—यदि वे अपने-आपको, अनगार धर्म पालन करने में असमर्थ समझते हैं, तो उनके लिये–आगार धर्म स्वीकार करना तथा उसका पालन करना ही श्रेयस्कर है।

आगार का अर्थ है 'सीमा'। आगार धर्म पालन करनेवाला अपनी लालसा और अपनी आवश्यकता की, सीमा कर लेता है और उस सीमा के अन्दर रह कर अपना सांसारिक जीवन व्यतीत करता है; तथा त्याग एवम् सन्तोष को बढ़ाता हुआ, अपने-आपको अनगार धर्म पालन करने के योग्य बनाता जाता है। आगार धर्म पालन करने वाला 'श्रमणोपासक' कहलाता है। श्रमणोपासक का अर्थ है, श्रमण अर्थात् साधु या अनगार की उपासना करने वाला। साधु, अनगार धर्म का पालन करने वाला होता है। श्रमणोपासक आगार धर्म का पालन करता हुआ अनगार धर्म प्राप्ति की इच्छा रखता है और अनगार धर्म पालन करनेवाले साधु को श्रेष्ठ तथा आदर्श मान कर, उनकी उपासना करता रहता है। आगार धर्म स्वीकार करने के लिये, बारह व्रतों का धारण करना आवश्यक है। वे बारह व्रत ये हैं—स्थूल अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अस्तेय व्रत, ब्रह्मचर्यव्रत, परिग्रह-परिमाणव्रत, दिशा परिमाणव्रत भोगोपभोग परिमाण व्रत, अनर्थ दण्ड निवर्तन

सकडालपुत्र की नम्र प्रार्थना सुन कर, भगवान ने उसे श्रावक के बारह व्रत धारण कराये, और व्रत के वे अतिचार भी बता दिये, जिनसे बचना—व्रत पालन के लिये—आवश्यक है।

भगवान से व्रत धारण करके, सकडालपुत्र को वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसी निर्धन को धन और रंक को राज्य मिलने से हुआ करती है।

भगवान से व्रत धारण करके और भगवान को वन्दना नमस्कार करके, सकडालपुत्र—पोलासपुर नगर स्थित—अपने घर को आया। घर में, सकडालपुत्र अपनी अग्निमित्रा पत्नी से कहने लगा कि—हे प्रिये, मैंने, श्रमण भगवान महावीर से धर्म सुनकर, आगारधर्म को स्वीकार किया है। मुझे, श्रमण भगवान महावीर का धर्म, हितकर और रुचिकर मालूम हुआ। मैं, तुम्हें भी यही सम्मति देता हूँ कि, तुमभी जाकर श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार और उनकी सेवा भक्ति करो, तथा उनके पास से—श्रावक के बारह व्रत रूप—आगारधर्म स्वीकार करो।

अग्निमित्रा ने, पति की बात बड़े हर्ष से सुनी और स्वीकार की। सकडालपुत्र ने, अपने यहाँ रहने वाले एक व्यक्ति को—अग्निमित्रा के लिये—धर्मरथ तैयार करके लाने की आज्ञा दी। स्नानादि से निवृत्त होकर तथा सुन्दर स्वच्छ एवं धर्म सभा में जाने योग्य वस्त्र पहिन कर—अपनी सखियों सहित—अग्निमित्रा,

धर्मरथ में सवार हुई और भगवान के दर्शन करने को चली।

शास्त्र के उक्त कथन से प्रकट है, कि उस समय के लोग, धर्मसभा में जाने के लिये—और स्थान पर जाने के लिये पहिने जाने वाले वस्त्रो से—भिन्न प्रकार के वस्त्र पहिनते थे। धर्म सभा में जाने के लिये, अभिमान-प्रदर्शक, स्वभाव में चंचलता उत्पन्न करने वाले एवं स्वयं के तथा दूसरो के हृदय में विकार-वृद्धि करने वाले वस्त्रों का उपयोग करना, धर्म का उचित सत्कार नहीं करना है। सम्भवतः इसी भावना को लेकर उस समय के लोग—धर्म सभा में जाने के समय ऐसे वस्त्र पहिनते होंगे, जिनसे उक्त दोष उत्पन्न न हो।

भगवान महावीर की, सेवा में उपस्थित हो, अग्निमित्रा और उसकी सखियो ने भगवान को वन्दना नमस्कार किया। भगवान महावीर ने, अग्निमित्रा सहित उपस्थित जन-समुदाय को, धर्म सुनाया। भगवान के मुख से धर्म सुन कर, अग्निमित्रा, बहुत आनन्दित हुई, तथा भगवान को वन्दना नमस्कार करके प्रार्थना करने लगी कि—हे भगवान, मैं निग्रन्थ—प्रवचन को श्रद्धती हूँ और आपने जो कुछ कहा है, उसे सत्य मानती हूँ। मैं, दीक्षा लेकर अनगारधर्म पालने में तो असमर्थ हूँ, इसलिये-पाँच अनुव्रत और सात शिक्षाव्रतरूप-गृहस्थ-धर्म, अंगीकार करना चाहती हूँ। कृपा करके आप, मुझे श्राविका के बारह व्रत धारण करादीजिये।

अग्निमित्रा की विनम्र प्रार्थना पर, भगवान ने, अग्निमित्रा को श्राविका के बारह व्रत धारण कराये और उनके अतिचार भी बता दिये।

भगवान से बारह व्रत धारण करके अग्निमित्रा, बहुत हर्षित हुई और भगवान को वन्दना नमस्कार करके—रथ पर सवार हो—अपने घर को लौट आई।

सकडालपुत्र, पहले आजीविक मत का अनुयायी था, और अब केवली-प्ररूपित धर्म का उपासक हुआ है। जिस प्रकार उसने, केवली-प्ररूपित धर्म स्वीकार करके, अपनी स्त्री से भी यही धर्म स्वीकार करने के लिए कहा—और अग्निमित्रा ने, भगवान का धर्म स्वीकार भी किया—इसी प्रकार, सकडालपुत्र जब गोशालक-मत का अनुयायी बना था, तब भी उसने, अग्निमित्रा से गोशालक का मत स्वीकार करने के लिए कहा होगा—और अग्निमित्रा ने स्वीकार भी किया होगा। अर्थात, सकडालपुत्र के साथ ही, अग्निमित्रा भी, आजीविकमत की अनुयायिनी रही होगी। ऐसा होते हुए भी, जब सकडालपुत्र ने गोशालक का मत त्याग कर, भगवान महावीर का धर्म स्वीकार किया, तब अग्निमित्रा ने भी—पति का अनुसरण करते हुए—वही किया। यह नहीं हुआ कि, उसने गोशालक के मत का पक्ष लेकर, पति की बात का [illegible] विरोध किया हो, या [illegible]

की ही अनुयायिनी रही हो। जिस समय ऐसा था, उस समय, दाम्पत्य-जीवन भी कलहपूर्वक नहीं, किन्तु सुख पूर्वक बीतता था। आज तो यह हो रहा है, कि पति जिस धर्म का अनुयायी है, पत्नी उसके विरोधीधर्म की अनुयायिनी है, और पत्नी जिस धर्म की अनुयायिनी है, पति उसके विरोधी धर्म का अनुयायी है। पत्नी, पति के गुरु को कुगुरु, पति के धर्म को मिथ्या धर्म और पति के धर्म-कार्य को पाप मानती है, तथा पति, पत्नी के गुरु को कुगुरु, पत्नी के धर्म को मिथ्या धर्म एवम् पत्नी के धर्म-कार्य को पाप मानता है। वह उसके धर्म तथा गुरु की निन्दा करता है, और वह उसके धर्म तथा गुरु की निन्दा करती है। न पति ही, अपना माना हुआ धर्म, पत्नी को समझा सकता है; न पत्नी ही, अपना माना हुआ धर्म, पति को समझा सकती है। इस प्रकार, धर्म भी दाम्पत्य-कलह का कारण बन रहा है। एक ही घर के लोग, और विशेषतः दम्पति, जब परस्पर विरोधी धर्म के अनुयायी हो, तब जीवन, सुखपूर्वक बीते तो कैसे और पत्नी, पति की धर्मसहायिका, तथा पति, पत्नी का धर्म-सहायक कैसे माना जावे? ऐसी दशा में, यह भी कैसे कहा जा सकता है, कि इनमें परस्पर विश्वास है। हाँ, यह दशा, पारस्परिक अविश्वास की द्योतक अवश्य है। पूर्व की जितनी भी कथाएँ हैं, उनमें यह प्रमाण कहीं ही कहीं मिलता है कि पति-पत्नी जीवन भर

भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी धर्म के अनुयायी रहे हों। बल्कि यह प्रमाण विशेषरूप से मिलता है, कि या तो पति के स्वीकार किये हुए धर्म को, पत्नी ने भी स्वीकार किया—जैसे कि सकडाल-पुत्र आनन्द आदि की पत्नियों ने—या पत्नी के स्वीकार किये हुए धर्म को, पति ने भी स्वीकार किया—जैसे कि चेलना रानी के स्वीकार किये हुए केवलीप्ररूपित-धर्म को, राजा श्रेणिक ने भी अपनाया था।

इस कथन का यह अर्थ नहीं है, कि सहयोग की दृष्टि से, पति या पत्नी, किसी असत्य धर्म के उपासक बन जावें। किन्तु यह अर्थ है कि परस्पर निर्णय करके जो सत्यधर्म हो, उसे स्वीकार करना उचित है। घर में एक व्यक्ति सत्यधर्म का उपासक हो और दूसरा असत्यधर्म का अनुयायी हो, तो शान्तिभंग होना स्वाभाविक है। इसलिये सत्यधर्म को पहिचानकर उसीका उपासक होना श्रेयस्कर है।

भगवान महावीर से, आगारधर्म स्वीकार करके सकडाल-पुत्र, श्रमणोपासक हुआ। उसने—जीव, अजीव, आदि—नव तत्वों को समझा और आगारधर्म का पालन करता हुआ, अपना जीवन सुखपूर्वक बिताने लगा। कुछ समय तक, पोलासपुर नगर में बिराजकर, भगवान महावीर भी अन्यत्र जनपदेश में विहार कर गए।

भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी धर्म के अनुयायी रहे हों। बल्कि यह प्रमाण विशेषरूप से मिलता है, कि या तो पति के स्वीकार किये हुए धर्म को, पत्नी ने भी स्वीकार किया—जैसे कि सकडाल-पुत्र आनन्द आदि की पत्नियों ने—या पत्नी के स्वीकार किये हुए धर्म को, पति ने भी स्वीकार किया—जैसे कि चेलना रानी के स्वीकार किये हुए केवलीप्ररूपित-धर्म को, राजा श्रेणिक ने भी अपनाया था।

इस कथन का यह अर्थ नहीं है, कि सहयोग की दृष्टि से, पति या पत्नी, किसी असत्य धर्म के उपासक बन जावें। किन्तु यह अर्थ है कि परस्पर निर्णय करके जो सत्यधर्म हो, उसे स्वीकार करना उचित है। घर में एक व्यक्ति सत्यधर्म का उपासक हो और दूसरा असत्यधर्म का अनुयायी हो, तो शान्तिभंग होना स्वाभाविक है। इसलिये सत्यधर्म को पहिचानकर उसीका उपासक होना श्रेयस्कर है।

भगवान महावीर से, आगारधर्म स्वीकार करके सकडाल-पुत्र, श्रमणोपासक हुआ। उसने—जीव, अजीव, आदि—सब तत्त्वों को समझा और आगारधर्म का पालन करता हुआ, अपना जीवन सुखपूर्वक विताने लगा। कुछ समय तक, पौलासपुर नगर में विराजकर, भगवान महावीर भी अन्यत्र जनपददेश में विहार कर गए।

उधर, गौशालक ने सुना कि, मेरे अनुयायी सकडालपुत्र ने होनहारवाद तथा आजीविक मत की श्रद्धा त्यागकर—भगवान महावीर के पुरुपार्थवाद को मान लिया है, और श्रमणोपासक वन गया है। गौशालक ने, यह सुनकर विचार किया कि, मैं पौलासपुर जाकर सकडालपुत्र से श्रमण निग्रन्थ का धर्म त्याग कराऊँ और उसे, फिर आजीविक मतानुयायी वनाऊँ। इस प्रकार निश्चय करके, गौशालक, अपने संघ सहित, पौलासपुर आया, तथा आजीविक पन्थियों की सभा में अपने भण्डोपकरण रखकर, कुछ अनुयायियों को साथ ले, वह सकडालपुत्र के यहाँ गया।

*मिथ्या-मत के प्रचारक लोग, अपने अनुयायियों की संख्या वढ़ाने के लिये, प्रत्येक उपाय का अवलम्वन लिया करते हैं। उन्हें धर्म-अधर्म की उतनी अपेक्षा नहीं होती, जितनी अपेक्षा अपने अनुयायी वढ़ाने की होती है। इसके लिये, वे कभी नम्र-से भी नम्र वन जाते हैं, कभी मूर्त्तिमान क्रोध वन जाते हैं, और कभी सहृदय, गुणग्राहक तथा विरोधी की प्रशंसा करनेवाले भी वन जाते हैं।*

गौशालक को अपने यहाँ आते देखकर, सकडालपुत्र समझ गया, कि ये मेरे पूर्व-गुरु, अपना सिद्धान्त मुझसे मनवाने के लिये ही आ रहे हैं। उसने विचारा, कि मैं इस वात को भली-

भांति समझ चुका हूँ, कि गोशालक का सिद्धान्त–मेरे ही लिये नहीं, किन्तु सारे संसार के लिये अहितकर है। ऐसी दशा में, इनका सत्कार करना, इन्हे अपना सिद्धान्त माने जाने की आशा दिलाना है। किसी आशावाले को, निराश करने की अपेक्षा, आशा न होने देना ही अच्छा है। यदि, ये अतिथि या अभ्यागत के रूप में आये होते, तब तो इनका आदर-सत्कार करना मेरा नैतिक-कर्त्तव्य था, लेकिन ये अपने मिथ्यामत का प्रचार करने आये हैं, ऐसी दशा में इनको सम्मान देना, इनके मत को सम्मान देना है। ऐसे दिये हुए सम्मान का, और लोगों पर बुरा असर पड़ेगा। इसके साथ ही, तिरस्कार करना भी अच्छा नहीं है, इसलिये मुझे मौन धारण कर लेना ही ठीक है।

गोशालक, सकडालपुत्र के यहाँ आया, लेकिन, उक्त विचार से, सकडालपुत्र, गोशालक को देखकर न तो किसी प्रकार प्रभावित ही हुआ, न पहले की भाँति उसने, गोशालक का सत्कार ही किया। वह उसी प्रकार मौनस्थ रहा, जिस प्रकार कि गोशालक के आने से पहले था। सकडालपुत्र के इस व्यवहार से, गोशालक को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। सकडालपुत्र की मुखमुद्रा पर से, गोशालक समझ गया कि, भगवान महावीर के उपदेश का इस पर बहुत प्रभाव पड़ चुका है, इसीसे अब यह मुझे, तथा मेरे सिद्धान्त को आदर की दृष्टि से नहीं देखता है। यदि ऐसा न

होता, तो यह मुझे देखकर भी, मौन तथा स्थिर भाव से न बैठा रहता।

गौशालक विचारने लगा, कि मैं सकडालपुत्र की प्रार्थना पर नहीं, किन्तु स्वेच्छा से इसके यहाँ आया हूँ। अब यदि मैं यहाँ से लौटा जाता हूँ—तो यह तो मेरे अनुशासन से निकल ही गया है, लेकिन, मेरे अन्य अनुयायियो पर भी, बुरा प्रभाव पड़ेगा। यद्यपि, मैं जिस उद्देश्य से इसके यहाँ आया हूँ, उसमे सफलता मिलने की आशा तो नहीं दिखती, लेकिन, कम से कम आज तो जिस तरह बने उस तरह इससे स्थान, पाट आदि प्राप्त करने चाहिएँ, जिसमें दूसरे लोगो के हृदय में मेरे, या मेरे मत के प्रति अश्रद्धा न हो। यह, मेरा एक प्रसिद्ध अनुयायी था। यदि, मैं इसके यहाँ से इसी समय चला जाऊँगा, तो लोगो में यह बात फैल जावेगी, कि सकडालपुत्र अब गौशालक का उपासक नहीं रहा। इस बात का, मेरे उपासकों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, इसलिये, जैसे हो वैसे इससे स्थान, पाट आदि लेकर इसीके यहाँ ठहरना चाहिए। ऐसा होने पर, और लोग कम से कम यह तो समझेंगे ही, कि सकडालपुत्र, भगवान महावीर और गौशालक को समान रूप से मानता है। इसके सिवा, यदि मैं सकडालपुत्र के यहाँ रहूँगा, तो सम्भव है कि कभी इसके विचारों को अपने सिद्धान्त के अनुकूल भी कर सकूँ।

संभवतः इस प्रकार विचार कर, ही गोशालक ने, भगवान महावीर की प्रशंसा द्वारा, सकडालपुत्र से सम्मान प्राप्त करने का निश्चय किया। वह, सकडालपुत्र से कहने लगा कि, हे देवानु-प्रिय, क्या यहाँ महा-महान् आये थे?

गोशालक का प्रश्न सुन कर, सकडालपुत्र ने विचारा, कि यद्यपि, अब मैं गोशालक या इसके सिद्धान्त को-पूर्व की भाँति-आदर की दृष्टि से नहीं देखता, न मेरी इच्छा इससे बात करने की ही है, लेकिन यह तो जानूँ, कि गोशालक, महा-महान् कहता किसे है?

इस प्रकार विचार कर, सकडालपुत्र ने, गोशालक से पूछा-कि—देवानुप्रिय, महा-महान् कौन? अर्थात्, आप महा-महान् किसे कहते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में, गोशालक ने कहा कि—मैं, श्रमण भगवान महावीर को महा-महान् कह रहा हूँ।

'श्रमण' का अर्थ है, साधु। जो व्यक्ति, संसार के समस्त पदार्थों से ममत्व त्याग कर, अपने आत्मा को कल्याण-मार्ग में लगाये हुए है, और मोक्ष-प्राप्ति ही जिसका ध्येय है, उसे, श्रमण, साधु, या अनगार कहते हैं। 'भगवान' का अर्थ मालिक, स्वामी, या प्रभु है। जो, ज्ञान का स्वामी है, अपने आत्मा पर जिसका पूर्ण आधिपत्य है, उसे भगवान कहते हैं। 'महावीर' का अर्थ है, वीरों का भी वीर। साधारण वीरों से न जीते गये—काम क्रोधा-

दि—पर, जिसने विजय प्राप्त करली है—उन्हे नष्ट कर दिया है-उसे, महावीर कहते हैं। श्रमण भगवान और महावीर, ये तीनो ही विशेषण हैं। इन विशेषणों द्वारा ही, गौशालक ने, चौवीसवें तीर्थङ्कर—सिद्धार्थपुत्र—का परिचय दिया है, तथा वे, इन विशेषणो से ही प्रसिद्ध भी थे।

गौशालक के उत्तर देने पर भी, सकडालपुत्र, चुप रहा। तब गौशालक ने, सकडालपुत्र से फिर पूछा कि—हे देवानुप्रिय, क्या यहाँ महागोप आये थे ?

गौओं की रक्षा करते हुए, उन्हे उनके स्थान पर पहुँचा देने वाले को 'गोप' कहते हैं। गोप की तरह, जो संसार के सभी प्राणियों को—सुरक्षित रूप से—जीव के वास्तविक स्थान-मोक्ष-में पहुँचाने का उपाय करता है, उसे 'महागोप' कहते हैं।

गौशालक के इस दूसरे प्रश्न को सुन कर भी, सकडालपुत्र ने यही पूछा कि—हे देवानुप्रिय, आप, महागोप किसे कह रहे हैं ? गौशालक ने उत्तर दिया कि—मैं, श्रमण भगवान महावीर को, महागोप कह रहा हूँ। सकडालपुत्र ने प्रश्न किया कि—आप किस अर्थ से उन्हे महागोप कह रहे हैं ? इसके उत्तर में, गौशालक कहने लगा कि—जिस प्रकार, गौओ को वन में भटकती रहने देने पर, उनके विनाश का भय रहता है, चोरो द्वारा चुराए जाने का डर रहता है; इसलिये, गोप लोग उन्हे डण्डे से घेर कर

बाड़े में ले आते हैं और इस प्रकार उन गौओं को, हिंसक जीव, चोर, इत्यादि की ओर से सुरक्षित कर देते हैं, उसी प्रकार, इस ससार रूपी वन मे भटकते हुए प्राणियों को, भगवान महावीर, धर्म-रूपी डण्डे से निर्वाण-रूपी बाड़े में पहुँचाकर, जन्म-मरण के भय से मुक्त कर देते हैं। इसी कारण, मैंने उन्हें महागोप कहा है।

गौशालक से, महागोप की व्याख्या सुनकर भी, सकडालपुत्र चुप रहा। तब गौशालक ने फिर पूछा कि—हे देवानुप्रिय, क्या यहाँ महा-सार्थवाही आये थे? गौशालक के इस प्रश्न को सुनकर, सकडालपुत्र ने, पूर्व की भाँति गौशालक से पूछा कि—देवानुप्रिय, महासार्थवाही कौन? गौशालक ने उत्तर दिया कि—श्रमण भगवान् महावीर, महासार्थवाही हैं। सकडालपुत्र ने फिर पूछा कि—श्रमण भगवान महावीर, महासार्थवाही किस अर्थ से हैं?

सकडालपुत्र के प्रश्न के उत्तर में, गौशालक कहने लगा कि—जंगल के भयानक तथा संकट पूर्ण पथ में साथ रह कर जो सुरक्षित रूप से नगर में पहुँचा देता है, उसे, सार्थवाही कहते हैं। श्रमण भगवान महावीर, इस संसार रूपी भयानक वन में प्राणियों को धर्म रूपी सरल मार्ग बताते हैं, और इस वन से निकाल कर, निर्वाण रूपी नगर में पहुँचा देते हैं; इसलिये वे महासार्थवाही हैं।

महा सार्थवाही की व्याख्या सुन कर भी, सकडालपुत्र, गौशालक से कुछ न बोला। तब गौशालक ने, सकडालपुत्र से फिर पूछा कि—हे देवानुप्रिय, क्या यहाँ महाधर्म-कथी आये थे? सकडालपुत्र ने, गौशालक से फिर यही प्रश्न किया कि आप, महाधर्मकथी किसे कहते हैं? गौशालक ने उत्तर दिया कि—मैं, श्रमण भगवान महावीर को महाधर्मकथी कहता हूँ। सकडालपुत्र ने पूछा कि—आप, उन्हें महाधर्मकथी किस अर्थ से कहते हैं? गौशालक, उत्तर में कहने लगा कि—इस संसार में, बहुत से जीव चक्कर खाते फिरते हैं और नाना प्रकार के कष्ट उठा रहे हैं। भगवान महावीर, मोक्ष प्राप्ति के लिये, उन जीवों को—धर्म सुना कर सत्पथ पर लगा रहे हैं, इसलिये मैंने उन्हें महाधर्मकथी कहा है।

गौशालक से, महाधर्म कथी की व्याख्या सुन कर भी, सकडालपुत्र चुप ही रहा। तब गौशालक ने फिर प्रश्न किया कि—हे देवानुप्रिय, क्या यहाँ महानाविक आये थे? सकडालपुत्र ने पूछा कि आप, महानाविक किसे कह रहे हैं? गौशालक ने उत्तर दिया कि—मैं, श्रमण भगवान महावीर को महानाविक कह रहा हूँ। सकडालपुत्र ने पूछा कि—आप, किस अर्थ से उन्हें महानाविक कह रहे हैं? गौशालक ने कहा कि—इस संसार रूपी समुद्र में बहुत से जीव त्रास पाते हैं, डूब रहे हैं और जन्म-

मरण रूपी जल की लहरों से टकरा रहे हैं। भगवान महावीर, ऐसे जीवों को, धर्म रूपी नाव में बैठा कर संसार-समुद्र से पार कर देते हैं और मोक्ष रूपी नगर में पहुँचा देते हैं—जहाँ वे जीव, दुःख रहित हो जाते हैं। भगवान महावीर, इस धर्म रूपी नाव के नाविक हैं। नाविक तो, साधारण समुद्र में ही नाव चलाता है, लेकिन भगवान महावीर की धर्मरूपी नाव, संसार रूपी महासमुद्र में चलती है और जल में चलने वाली नाव के डूबने का जैसा भय रहता है, वैसे भय से, भगवान महावीर की यह—धर्मरूपी—नाव मुक्त है। इसी कारण भगवान महावीर को, मैंने महानाविक कहा है।

गोशालक ने, सकडालपुत्र से कई बार प्रश्न किये, लेकिन सकडालपुत्र ने, उसकी इच्छानुसार उत्तर नहीं दिया। सकडालपुत्र ने, गोशालक को इसलिये उत्तर नहीं दिया, कि एक तो सकडालपुत्र यह जानना चाहता था, कि भगवान महावीर के विषय में, गोशालक कैसे उद्गार निकालता है। दूसरे, भगवान महावीर के विरोधी गोशालक के मुख से, भगवान महावीर की प्रशंसा सुनने में, सकडालपुत्र को आनन्द आता था। वह विचारता था, कि यदि मैं, गोशालक को उसके प्रश्न का उत्तर शीघ्र ही दे दूँगा, तो फिर वह, भगवान महावीर की प्रशंसा न करेगा। इसके सिवा, मैं यह भी न जान सकूँगा कि मुझसे उत्तर न पाने

पर गोशालक, भगवान महावीर के लिये कैसे उद्गार निकालता है। संभवत इस प्रकार सोच कर ही, सकडालपुत्र ने, गोशालक से उसके द्वारा कहे हुए, भगवान महावीर के विशेषणों का अर्थ जानने के सिवा—और कुछ नहीं कहा। लेकिन जब गोशालक ने, सकडालपुत्र से पाँच वार प्रश्न किये और पाँचो ही वार भगवान महावीर की प्रशंसा की, तव सकडालपुत्र ने विचारा कि अब गोशालक से वातचीत नहीं करना, अनुचित होगा। अव तो इससे, कुछ वातचीत करनी ही चाहिए।

इस प्रकार सोच कर और गोशालक से महानाविक का अर्थ जान कर, सकडालपुत्र ने गोशालक से कहा कि—हे देवानुप्रिय, लोक में आप, वड़े विचक्षण बुद्धिमान माने जाते हैं, आप इस तरह नयवादी, एवं कुशल-वक्ता हैं, अपनी वात सिद्ध करने में, आपको देर भी नहीं लगती है और वात के तत्त्व को भी, आप शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं। आप में, ये सब गुण दिखाई देते हैं, भगवान महावीर के गुणों से भी आप भिज्ञ हैं और उनकी प्रशंसा भी करते हैं, लेकिन यह समझ मे नहीं आता कि ऐसा होते हुए भी—आप से और भगवान महावीर से, मत-भेद क्यो है ? यदि, भगवान महावीर की कोई वात, आपको अयथार्थ मालूम होती है, तो आप उनसे वाद विवाद करके, वास्तविकता का निर्णय क्यों नहीं कर लेते है ?

सकडालपुत्र की बात के उत्तर में, गोशालक ने कहा कि-हे देवानुप्रिय, मैं भगवान महावीर से वादविवाद करने में असमर्थ हूँ। जिस प्रकार, एक हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले बलशाली मेधावी और व्यायाम किये हुए युवक के हाथ से, भेड़, बकरी, तीतर, बटेर प्रभृति छोटे छोटे पशु पत्ती, अपनी शक्ति के बल पर नहीं छूट सकते, उसी प्रकार मैं, भगवान महावीर से वादविवाद में नहीं जीत सकता। भगवान महावीर से वादविवाद करने का मेरा साहस करना वैसा ही होगा, जैसा कि, सिंह से लड़ने के लिये, बकरी का साहस करना होता है।

गोशालक ने भगवान महावीर की जो प्रशंसा की थी, वह हार्दिक नहीं थी, किन्तु अपना उद्देश्य सफल करने के लिये थी। इसलिये गोशालक का यह कार्य न तो समदृष्टिपने का ही था, न भगवान की आज्ञा में ही था। जो लोग, अज्ञानी के दान मानादि भी—समदृष्टि के दान, मान, सम्मान की तरह भगवान की आज्ञा में कहते हैं, उन्हें, गोशालक के इस कार्य पर से विचार करना चाहिए, कि गोशालक ने, भगवान की इतनी प्रशंसा की, इस प्रकार गुणगान किया, फिर भी वह, भगवान का निन्दक क्यों कहलाया? वास्तव में बात यह है, कि अज्ञानी का दान, मान, सन्मान, हार्दिक नहीं होता, किन्तु बनावटी, केवल लोगों को दिखाने या सांसारिक कार्य सिद्ध करने के

लिये होता है, और समदृष्टि का दान, मान, सम्मान, बनावटी, लोगों को दिखाने, या सांसारिक कामना के लिये नहीं होता; किन्तु हार्दिक, तथा मोक्ष के हेतु होता है। इसलिये समदृष्टि के दान, मान, सम्मान की तरह अज्ञानी के दान, मान, सम्मान, भगवान की आज्ञा में नहीं हैं।

गौशालक की बात सुन कर, सकडाल पुत्र ने विचारा, कि गौशालक ने, मेरे गुरू भगवान महावीर की इतनी प्रशंसा की है, और उनसे वादविवाद करने में उन्हे सिंह, तथा अपने आपको बकरी के समान मान रहा है, ऐसी दशा में कम से कम इसे ठहरने के लिये स्थानादि तो देना ही चाहिए। इस प्रकार सोच कर, सकडालपुत्र ने गौशालक से कहा कि हे देवानुप्रिय, आपने मेरे धर्माचार्य भगवान महावीर का, उचित और वास्तविक गुणानुवाद किया है; इसलिये मैं, आपको मेरी दूकान में ठहरने एवं पाट, शय्या, संथारा आदि लेने के लिये आमन्त्रित करता हूँ। आपको, जो चाहिए सो लीजिये।

गौशालक ने, भगवान महावीर की जो प्रशंसा की थी, वह इसी उद्देश्य से, कि मुझे सकडालपुत्र, अपने यहाँ ठहरने को स्थानादि दे। अपने उद्देश्य में सफलता मिलने से, गौशालक प्रसन्न हुआ और वह, सकडाल पुत्र की दूकान में शय्या, संथारा आदि लेकर ठहर गया। वहाँ ठहर कर गौशालक, सकडाल-

पुत्र को फिर अपना अनुयायी बनाने की चेष्टा करने लगा। उसने, सकडालपुत्र को, तर्क युक्ति सहित बहुत उपदेश दिया, लेकिन वह, सकडालपुत्र की अकाट्य युक्तियों के आगे, अपने उद्देश्य में असफल रहा। सकडालपुत्र को अपना अनुयायी बनाने की ओर से, गोशालक जब निराश हो चुका, तब वहाँ से विहार कर गया।

सकडालपुत्रश्रावक, भगवान महावीर से स्वीकार किये हुए व्रतों का, सावधानीपूर्वक पालन करने लगा। व्रतों में, अनाचार होने देना तो दूर रहा, अतिचार न होने देने का भी यह बहुत ध्यान रखता था। उसने, चौदह वर्ष तक, भगवान महावीर से स्वीकार किये हुए व्रतों का—घर में रह कर—भली प्रकार पालन किया।

श्रावक-धर्म पालन करते, जब चौदह वर्ष व्यतीत हो चुके और पन्द्रहवाँ वर्ष जा रहा था, तब—आधीरात के समय—सकडालपुत्र ने अपने मन में विचार किया कि मुझ पर, घर-गृहस्थी का बहुत भार है और कौटुम्बिक-प्रपंच के कारण, मैं इस आगारधर्म का भी पालन समुचित-रीति से नहीं कर पाता। मुझे, अपनी सारी आयु, घर के कामों में ही व्यतीत न करनी चाहिए. किन्तु—अन्त समय में काम आनेवाले—धर्म से, आत्मा को कुछ बलवान बना लेना चाहिए। जिस प्रकार, मैंने सांसारिक-

वैभव संचय किया है, उसी प्रकार, मुझे धर्मरूपी धन भी संचय करना चाहिए। यह सांसारिक धन-वैभव तो यहीं रह जावेगा, साथ न जावेगा। साथ तो केवल धर्म ही जावेगा। इसलिये मुझे उचित है, कि मैं, सब के सन्मुख, घर-गृहस्थी का भार अपने बड़े लड़के को सौंप—पौषधशाला में रहते हुए—आत्मा को, निरन्तर धर्म-चिन्तन में लगा दूँ। अब मेरे लिये, ऐसा ही करना श्रेयस्कर है, सांसारिक-झगड़ों में ही फँसे रह कर मरना, ठीक नहीं है।

इस प्रकार निश्चय करके, सकडालपुत्रश्रावक ने, अपने कुटुम्ब-परिवार के लोगों को, अपने यहाँ आमन्त्रित किया। आमन्त्रित लोगों को भोजन करा कर, सब के सन्मुख, सकडाल-पुत्र ने गृहस्थी का समस्त भार, अपने बड़े लड़के को सौंप दिया और आप, इस भार से मुक्त हो गया।

पहले के लोग, अपनी सन्तान के लिये जिस प्रकार, यश, वैभव और कीर्त्ति सम्पादन करने का आदर्श रखते थे, उसी प्रकार, इनके-त्याग का भी आदर्श रखते थे। यह नहीं होता था, कि जिस प्रकार मकड़ी, जाला बनाकर फिर उसी में फँस मरती है, उसी प्रकार, सांसारिक सम्पत्ति एकत्रित करके, उसीमें फँस मरें। वे, अपनी सन्तान को, नीतिपूर्वक सम्पत्ति-उपार्जन भी सिखाते थे और इसके साथ ही, उसका त्याग भी सिखाते थे।

किसी बात का प्रभाव, कहने मात्र से ही नहीं पड़ा करता, किन्तु, आदर्श रखने से भी पड़ता है। बल्कि, कहने की अपेक्षा, करके बता देने का प्रभाव अधिक पड़ता है। इसके अनुसार, पूर्वकालीन श्रावक—पैतृक, तथा स्वयं की उपार्जित—सम्पदा को, धर्म-सेवा के लिए त्यागकर, अपनी सन्तान के सन्मुख, क्रियात्मक-आदर्श रखते थे। 'जैसा पिता, वैसा पुत्र' इस कहावत के अनुसार, ऐसे त्यागियों की सन्तान भी, त्यागिनी होती थी, और वह भी, धर्म के लिये, बड़ी से बड़ी सम्पत्ति को त्यागने में, नहीं हिचकिचाती थी। आज, इससे विपरीत यह हो रहा है, कि घर सम्पत्ति को, सदा के लिये छोड़ना तो दूर रहा, बहुत से लोगों को, नियमित धर्मध्यान के लिये भी समय नहीं मिलता—इतनी देर के लिये भी, सांसारिक झंझटों, से अपने आपको मुक्त नहीं कर सकते—या यों कहो, कि दो घड़ी के लिये भी, वे, संसार के काम नहीं छोड़ सकते। ऐसे लोगों की सन्तान के हृदय में, धर्म या त्याग के प्रति प्रेम उत्पन्न हो तो कैसे ? हाँ, अपने पिता के आदर्श को सामने रखकर, सन्तान, धर्म-प्रेम का ही त्याग चाहे कर डाले, लेकिन संसार-त्याग का तो, उसके सामने आदर्श ही नहीं रखा गया है, इसलिये, संसार-त्याग कैसे कर सकती है ? पूर्वसमय के लोगों की भावना, यह रहती थी, कि हमारी सन्तान, हमसे भी अधिक धर्मसेवी और सांसारिक मोह त्याग करनेवाली

हो। इसके लिए वे स्वयं, सांसारिक सम्पत्ति त्यागकर, धर्म-सेवा का आदर्श-अपनी सन्तान के सामने रखते थे। ऐसा करके वे लोग, अपना भी कल्याण कर लेते थे, और अपनी सन्तान को भी, कल्याण का मार्ग बता जाते थे।

सकडालपुत्रश्रावक ने, गृहकार्य का भार, अपने बड़े लड़के को सौंप दिया और आप—इस ओर से स्वतन्त्र हो—श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार कर, पौषधशाला में रहने लगा। धर्म-पालन करते हुए, सकडालपुत्र को भगवान महावीर का धर्म छोड़ने के लिये, देवता द्वारा बताये गये अनेक भय का भी सामना करना पड़ा, लेकिन सकडालपुत्र, न तो भयभीत ही हुआ, न धर्म से विचलित ही हुआ। सकडालपुत्र को धर्म में इस प्रकार दृढ़ देख कर, अन्त में देवता को भी भाग जाना पड़ा।

सकडालपुत्रश्रावक, बहुत दिनों तक तन-मन से धर्म की आराधना करता रहा। अन्त में, उसने सन्थारा कर लिया—अर्थात्,समस्त खाद्य पदार्थों को त्याग कर, धर्म के लिये शरीर-उत्सर्ग कर दिया। इस अवस्था में वह तीस दिन तक जीवित रहा और फिर, शरीर छोड़ कर, प्रथम देवलोक के अरुणभूत विमान में, देवतन धारण किया।

सकडालपुत्रश्रावक की उक्त कथा सुनाकर गणधर भगवान श्रीसुधर्मा स्वामी ने श्रीजम्बूस्वामी से कहा कि—हे जम्बू,

भगवान महावीर के कथनानुसार, सकडालपुत्रश्रावक ने अरुण-भूत विमान में चार पल्योपम का आयुष्य पाया है। इस देव-गति के आयुष्य को क्षय करके, वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और वहाँ, संयम को स्वीकार कर, सिद्ध, बुद्ध, तथा मुक्त हो, सब दुःखों का अन्त करेगा।

---

# उपसंहार।

यह कथा एक ऐसे श्रावक की है, जो पहले, सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म के विरोधी मत का अनुयायी था और फिर केवली-प्ररूपित धर्म का अनुयायी हुआ। विशेषतः यह कथा, धर्म को समझ कर पालन करने और 'धर्म' नामधारी 'अधर्म' को त्यागने के आदर्श पर स्थित है। कथा में बताया गया है कि किसी असत्य मत के अनुयायी होने पर, और यह समझ जाने पर कि यह मत असत्य है, उस असत्य मत को किस प्रकार त्याग देना चाहिए तथा सत्य-धर्म किस प्रकार स्वीकार करना चाहिए। सत्य-धर्म को स्वीकार करने के पश्चात्, उसपर किस प्रकार श्रद्धा-विश्वास रखना, एवं उसका पालन करना चाहिए, यह भी इस कथा में दर्शाया गया है।

इस कथा में, हिंसा-अहिंसा की गर्भित व्याख्या भी है। अर्थात् यह भी बतलाया गया है कि सूक्ष्म और स्थूल हिंसा में कैसा अन्तर है, तथा सूक्ष्म हिंसा की अपेक्षा आन्तरिक शुद्ध परिणामों की किस प्रकार विशेषता है। सकडालपुत्र कुम्भकार था, इसलिये बाह्यदृष्टि से तो अपनी आजीविका के लिये पृथ्वी, पानी, अग्नि

आदि का आरम्भ करता था, लेकिन उसके आन्तरिक परिणाम शुद्ध थे—बुरे न थे। इन शुद्ध परिणामों को दृष्टि में रखकर ही देवता, सकडालपुत्र के यहाँ आया था। देवता के इस आगमन से सिद्ध है, कि शास्त्रकारों ने द्रव्य हिंसा की अपेक्षा भाव हिंसा को अधिक घातक—बुरा—माना है।

धर्मोपदेशक के लिये भी इस कथा में यह बताया गया है, कि किसी झूठे मत में फँसे हुए व्यक्ति को उस झूठे मत से निकालने के लिये युक्ति प्रमाण आदि से किस प्रकार काम लेना चाहिए, और उसे सत्य धर्म स्वीकार कराने के लिये, किस प्रकार चेष्टा करनी चाहिए। स्वयं भगवान महावीर ने भी, सकडालपुत्र के हृदय से असत्य मत निकाल कर, सत्य धर्म की स्थापना करने के लिये, किन उपायों का अवलम्बन लिया है, यह बात धर्मोपदेशक को दृष्टि में रखने योग्य है।

इस कथा में एक विशेषता और है। वह यह कि धर्म-पालन में जाति-पाँति बाधक नहीं हो सकती। चाहे कोई किसी भी जाति का हो, धर्म में उसे सबके समान ही अधिकार प्राप्त है। धर्मोपदेशक या धर्माचार्य को यह बात विशेष रूप से लक्ष्य में रखनी चाहिए, कि कोई व्यक्ति जाति पाँति में हलका होने के कारण धर्म से वंचित न रहने पावे। भगवान महावीर का धर्म, विशेषतः पीड़ितजनों के लिये ही है। भगवान ने अपने धर्म

में, तिरस्कृत जीवों को पहले स्थान दिया है। इसलिये, पीड़ित और तिरस्कृत लोगों को धर्मोपदेश सुना कर शान्ति पहुँचानी चाहिए और उन्हें धर्म का सेवक बनाना चाहिए।

सकडालपुत्रश्रावक की तरह, जो लोग केवली प्ररुपित धर्म को समझकर असत्यमत-त्याग सत्यधर्म का पालन करेंगे, उनका परम्परा पर सकडालपुत्र की तरह कल्याण होना स्वाभाविक है। इसलिए, कथा की बातों को समझकर, मिथ्यामत त्यागना और केवली प्ररुपित धर्म का पालन करना श्रेयस्कर है।

---

# श्री साधुमार्गी जैन-
## पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज
### की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल, रतलाम।

इस मण्डल की स्थापना सम्वत् १९७८ में—समस्त श्रावक-श्राविकाओं, एवं साधु-साध्वियों में प्रेम-भाव की वृद्धि करना, आचार-विचार को शुद्ध रखने का प्रयत्न करना, तथा ज्ञान-वृद्धि के कार्यों का सम्पादन करना—आदि उद्देश्यों को लेकर हुई थी। मण्डल अपने उद्देश्यों की पूर्ति का यथासाध्य प्रयत्न कर रहा है और अबतक मण्डल द्वारा समाज की जो सेवा हुई है, वह किसी से छिपी नहीं है।

ज्ञान-वृद्धि के लिये मण्डल ने साहित्य-प्रचार एवं विद्या-प्रचार, इन दो उपायों का आश्रय लिया है। साहित्य-प्रचार के लिये मण्डल, श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज के चातुर्मास के व्याख्यान, संग्रह एवं उनमें से पुस्तकें सम्पादन कराकर केवल छपाई और कागज के मूल्य में प्रकाशित करता है। मण्डल से जो पुस्तकें अबतक प्रकाशित हुई हैं, उनकी सूची अन्त में दी गई है। विद्याप्रचार के लिये, जैनहितेच्छु-मण्डल

विद्यालय खाचरोद, और धार्मिक परीक्षा बोर्ड, की स्थापना की गई है। इन उपायों द्वारा समाज का क्या हित हुआ है, इसका निर्णय तो समाज के विचारवान सज्जन ही कर सकते हैं। हम तो केवल यह अपील करते हैं, कि इस मण्डल के सदस्य बन कर इसकी उद्देश्य-पूर्त्ति में सहायता कीजिये। निम्न तीन श्रेणियो में से किसी भी श्रेणी का चन्दा देकर मण्डल का सदस्य बना जा सकता है—

( १ ) ५००) रु० से अधिक देकर वंश-परम्परा के लिये।

( २ ) १००) रु० से अधिक देकर जीवन भर के लिये।

( ३ ) २) रु० प्रतिवर्ष, देकर या कई वर्षों का इसी हिसाब से एक साथ देकर उतने वर्षों के लिये ।

मण्डल से निकलनेवाली, 'निवेदनपत्र' नाम की मासिकरिपोर्ट, प्रत्येक सदस्य को निःशुल्क मिलेगी।

विशेष विवरण के लिये, मण्डल के कार्यालय को लिखिये।

---

जीतमल लूणिया द्वारा सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर में मुद्रित।

'व्याख्यान-सार-संग्रह' पुस्तकमाला का दूसरा पुष्प।

श्री सज्जैनाचार्य—

पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज

के व्याख्यानों में से—

# सकडालपुत्र श्रावक।

सम्पादक—

श्री पं० मुन्नालालजी शास्त्री

संशोधक

पं० शङ्करप्रसादजी दीक्षित

प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज

के सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल

रतलाम (मालवा)

दूसरी बार १००० प्रति | वीराब्द २४५८ विक्रमाब्द १९८९ | मूल्य =)

# किंचिद् वक्तव्य।

'व्याख्यान-सार-संग्रह पुस्तक-माला' के दूसरे पुष्प सकडाल-पुत्र श्रावक का संशोधित संस्करण पाठकों के सामने रखते हुए हमें बहुत हर्ष हो रहा है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण थोडे ही समय में समाप्त हो गया, इसलिये दूसरा संस्करण निकालने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मण्डल ने प्रथम संस्करण में थोडे से संशोधन की आवश्यकता समझी, तदनुसार संशोधन करा कर यह दूसरा संस्करण निकाला गया है। आशा है कि यह संस्करण प्रथम संस्करण की अपेक्षा पाठकों को अधिक पसन्द होगा।

प्रथम संस्करण की पुस्तक का मूल्य ।=) था। मण्डल को इस संस्करण की छपाई में व्यय ही इतना पड़ा था और उसका कागज भी जिल्ददार था। यह कीमत कुछ अधिक थी, इसलिये इस संस्करण में हमने ऐसी योजना की है कि जिससे पुस्तक की कीमत कम हो। इसके लिये हमने पुस्तक का साइज और टाइप बदलने के साथ ही, दो हजार प्रतियें छपवाई हैं, इस कारण इस बार पुस्तकें सस्ती पड़ी हैं। अर्थात् इस बार पुस्तक की कीमत केवल दो ही आने है। हमें आशा है कि यह बात भी पाठकों की प्रसन्नता का कारण बनेगी।

अन्त में हम यह निवेदन कर देना उचित समझते हैं, कि पूज्य श्री का व्याख्यान तो साधु-भाषा में एवं शास्त्र-सम्मत ही होता है, लेकिन कार्यकर्त्ताओं से भूल होना सम्भव है। अत यदि इस संशोधित संस्करण में भी कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो, तो कृपालु पाठक हमें सूचित करने की कृपा करें। त्रुटियों के लिये हम या हमारे कार्यकर्त्ता ही दोषी ठहराये जा सकते हैं, पूज्य श्री का इसमें कोई दोष नहीं हो सकता। पाठकों की ओर से किसी त्रुटि की सूचना मिलने पर हम यथासाध्य उस त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न करेंगे। किमधिकम्।

भवदीय—

रतलाम<br>आषाढा पूर्णिमा<br>सं० १९८९ वि०

बालचन्द श्री श्रीमाल — सेक्रेटरी

वर्द्धमान पीतलिया — प्रेसीडेण्ट

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मंडल

---

# सकडालपुत्रश्रावक।

संसार में विरोधी-पक्ष सदा से चला आता है और किसी अपेक्षा से उसका होना भी आवश्यक है। बिना विरोधी-पक्ष के अच्छे-बुरे या हेय-उपादेय की पहिचान नहीं हो सकती। यदि 'रात' न हो, तो दिन को 'दिन' नाम से कोई न पुकारे। इसी प्रकार यदि विरोधी-पक्ष न हो, तो वास्तविकता का कोई महत्व भी न रहे। उदाहरण के लिये, 'झूठ' है, तभी 'सत्य' पहिचाना भी जाता है और उसका महत्व भी है। यदि 'झूठ' न हो, तो सत्य को कैसे पहिचाना जा सकता है और उसका महत्व भी क्यों हो? इससे सिद्ध हुआ कि वास्तविकता का महत्व, विरोधी पक्ष के बिना जाता रहता है।

'धर्म' का विरोधी 'अधर्म' है। 'अधर्म' की पर्याय से ही 'धर्म' जाना जाता है, और उसका महत्व है। अधर्म से घबरा कर ही, प्राणी, धर्म की शरण लेता है। प्राणी, जब देख लेता है कि, अधर्म से मेरी हर प्रकार हानि है—मुझे सब तरह से अशान्ति है—तभी वह धर्म की खोज करता है और धर्म की शरण लेता

है, तथा तभी वह धर्म का महत्व जानकर, धर्म को उपादेय भी मानता है।

आत्मा का यह स्वभाव है, कि वह अधर्म के नाम से सदा डरता ही रहता है। कोई भी व्यक्ति, अधर्म को अधर्म जान कर उसका सेवन नहीं करता। हाँ, यह वात दूसरी है कि कोई प्राणी किसी स्वार्थवश या विवश होकर, अधर्म को समझता हुआ भी उसका सेवन करे, या वह अधर्म उसे धर्म के रूप में हृदयङ्गम करा दिया गया हो, इसलिए उसका अनुसरण करे; अन्यथा प्रत्येक प्राणी स्वभावतः धर्मप्राप्ति की ही इच्छा रखता है।

यद्यपि आत्मा को, धर्म प्रिय है—आत्मा, धर्म ही चाहता है लेकिन कई वार वह स्वार्थियों के वंहकावे में पड़ कर—लम्पटियो की कुयुक्तियो में उलझ कर-धर्म के रूप मे अधर्म को भी अपना लेता है। धर्म की स्थिति, सिद्धान्तो पर है और मिथ्याभिमानी स्वार्थी एवम् विना त्याग किये ही यश-कीर्त्ति चाहने वाले लोग बुरे सिद्धान्तों के वल पर अपने अनुयायी वनाने की चेष्टा करते हैं। धर्म से कोसो दूर ये बुरे सिद्धान्त, धर्म के नाम पर लोगों के हृदय में भर दिये जाते हैं, जिससे लोग अधर्म को भी धर्म मान कर उसका सेवन करने लगते हैं।

धर्म के नाम पर अधर्म में फँस जाना, साधारण मनुष्यों के लिये स्वाभाविक है। भोले-भाले लोगों में लम्पटियों की कुयुक्तियों

पर विचार करने की शक्ति कहाँ ? वे तो तात्कालिक समाधान पर सन्तुष्ट हो जाते हैं, और उसी आधार पर अधर्म को भी धर्म मानने लगते हैं। ऐसे अधर्मानुयायी, यद्यपि अधर्म को मानते तो हैं धर्म समझ कर ही, लेकिन जिसे वे धर्म मान रहे हैं, उसे उनके विरोधियों की बातों से जबतक आज़मा न लें, दूसरे की बातें सुनकर अपने माने हुए धर्म को टकरा न लें, तब तक वह धर्म मानना भी अन्धश्रद्धा ही है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, कि वह अपनी मानी हुई बात को अपने आत्मा-द्वारा, या यदि यह शक्ति नहीं है, तो दूसरे की बातें सुनकर और सुनी हुई बातों के विषय में अपने धर्माध्यक्ष से निर्णय करके—सत्यता का विश्वास करले। साथ ही धर्म प्रचारकों का भी यह कर्त्तव्य है, कि वे, धर्म के नाम पर स्थित अधर्म को जनता के हृदय से निकालने और उसकी जगह धर्म को स्थान दिलाने के लिये चेष्टा करें—प्रमाण युक्ति, हेतु आदि से धर्म-अधर्म का रूप समझावें—तथा जिज्ञासु के हृदय से अधर्म को निकाल, धर्म स्थित करावें। उपासक दशांग सूत्र में वर्णित प्रस्तुत कथा में यह बतलाया गया है कि भगवान् महावीर ने सकडालपुत्र के हृदय से नियतिवाद की सत्ता मिटा कर पुरुषार्थवाद की सत्ता किस प्रकार जमाई थी।

भगवान महावीर के समय में भी धर्म के नाम पर अनेक

अधर्म चल रहे थे। भगवान ने इस प्रकार के अधर्मों को मिटाने के लिये और शुद्ध धर्म का पुनरुद्धार करने के लिये अपने तन-मन को धर्म के अर्पण कर दिया था। उन्होंने, अधर्म मिटा कर धर्म फैलाने की शक्ति प्राप्त करने के लिये ही, बारहवर्ष छः मास पन्द्रह दिन की दुष्कर तपस्या करने का कष्ट उठाया था। भगवान महावीर के समय में, धर्म के नाम पर चलनेवाले अधर्मों में से एक वह मत था, जिसका संस्थापक मंखलीपुत्र-गोशालक था। यद्यपि गोशालक पहले भगवान् महावीर का ही शिष्य था, लेकिन किसी कारण से वह भगवान् महावीर के अनुशासन से निकल गया था और भगवान् महावीर का निन्दक बनकर एक दूसरे मत की स्थापना की थी। उसका मत होनहारवाद के सिद्धान्त पर स्थित था। वह अपने अनुयायियों को यह उपदेश देता कि जो कुछ होता है, होनहार से होता है, पुरुषार्थ से कुछ नहीं होता।

होनहारवाद और पुरुषार्थवाद ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। भगवान महावीर पुरुषार्थवाद के उद्धारक थे, और गोशालक होनहारवाद का संस्थापक था। भगवान महावीर का उपदेश था कि पुरुषार्थ से कोई भी कार्य कठिन नहीं है। पुरुषार्थ करने पर भी यदि एक बार कार्य में सफलता नहीं मिली है, तब भी पुरुषार्थ न छोड़ना चाहिए। पुरुषार्थ करते रहने पर आगे सफलता मिलेगी ही। फल को देखकर निराश होना और पुरुषार्थ

छोड़ देना कायरता है, वीरता नहीं है।

गीता में भी कहा है—

*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।*

अर्थात्—तू कर्म करने का अधिकारी है, फल कभी न देख। फल देखने से तू कर्म न कर सकेगा, तेरे में कायरता आजावेगी।

गीता में कहे हुए कर्म का अर्थ है, पुरुषार्थ। पुरुषार्थी को फल पर दृष्टि न देनी चाहिए। ऐसा करने से पुरुषार्थ में कायरता आ जाने का भय है। भगवान महावीर का उपदेश यही था कि आत्मोद्धार के लिये पुरुषार्थ करो, लेकिन गोशालक पुरुषार्थ को अनावश्यक बतलाता था। वह कहता था कि पुरुषार्थ से कोई लाभ नहीं है, जो-कुछ होना होगा, वह हो जायगा। गोशालक का यह मत 'आजीविक-मत' कहलाता था। गोशालक के इस आजीविक मत के विचार से, लोगों में प्रमाद और अकर्मण्यता फैलती थी, जिससे प्राणियों की बहुत हानि थी। एक नीतिकार ने कहा है—

*आलस्यो हि परं शत्रु सदा तिष्ठति भित्तरे ।*

'आलस्य, सब से बड़ा शत्रु है और वह सदा भीतर-शरीर में-ही रहता है।'

गोशालक अपने मत के प्रचार द्वारा लोगों में आलस्य फैलाता था, लेकिन भगवान महावीर इस प्रकार का विरोध करते

थे और गोशालक का मत माननेवाले को पुरुषार्थवाद का महत्व समझा कर उसके हृदय से होनहारवाद की श्रद्धा मिटाते थे।

गोशालक, जिस मत का संस्थापक एवम् प्रचारक था, उस मत का एक पूर्ण अनुयायी पोलासपुर नामक नगर मे रहता था। इस अनुयायी का नाम सकडालपुत्र था। सकडालपुत्र, जाति का कुम्हार था और गोशालक के चलाये हुए मत का अनन्य भक्त था।

लोकोत्तर धर्म, किसी जाति या व्यक्ति विशेष के लिये ही नहीं है, किन्तु सब के लिये है। उत्तम-से-उत्तम कहलाने वाला जिस धर्म का उपासक है, उसी धर्म की उपासना एक नीच-से-नीच कहलाने वाला भी कर सकता है। भगवान महावीर के समय में, लोगो ने, धर्म को एक ठेके की वस्तु बना ली थी, और नीच-अछूत-कहलाने वाले शूद्रो को उससे वंचित कर दिया था। इतना ही नहीं, बल्कि इन धर्म से वंचित लोगों पर, धर्म के नाम से अत्याचार भी किया जाता था। भगवान महावीर ने इस प्रथा का भी विरोध किया और अपने धर्म में सब को स्थान दिया। भगवान की इस नीति का अनुकरण गोशालक ने भी किया था, इसी कारण—कुम्हार होते हुए भी—सकडालपुत्र उसके मत का अनुयायी था।

जिस प्रकार भगवान महावीर के गृहस्थ अनुयायी 'श्रमणो-

पासक' कहलाते हैं, उसी प्रकार गोशालक के मत के गृहस्थ अनुयायी "आजीविकोपासक" कहलाते थे। आजीविकोपासक लोग, गोशालक को ही अपना तीर्थङ्कर तथा उपास्य मानते थे। गोशालक का मत किसी सच्चे सिद्धान्त के ऊपर स्थित नहीं था; तथा गोशालक, नक़ली तीर्थङ्कर था, इसलिये उसका मत अधिक समय तक नहीं चला और अब तो उसके मत की बात केवल जैन-शास्त्रों में ही मिलती है।

सकडालपुत्र, गोशालक के मत का पूर्ण अनुयायी था। यद्यपि वह 'धर्म' नामधारी अधर्म में फंसा हुआ था, लेकिन उसने उस मत का खूब मनन किया था, जिससे उसे गोशालक के मत पर ऐसा विश्वास हो गया था, कि उसकी हड्डी-मज्जा में भी आजीविक मत का प्रेमानुराग भरा हुआ था। सकडालपुत्र ने, अन्य श्रद्धालु की तरह गोशालक के मत पर भी विश्वास नहीं किया था, किन्तु उसने अपनी बुद्धि के अनुसार, उस मत के विषय में गोशालक से खूब पूछताछ की थी और संशय दूर करके हृदय का समाधान कर लिया था।

थे और गौशालक का मत माननेवाले को पुरुषार्थवाद का महत्व समझा कर उसके हृदय से होनहारवाद की श्रद्धा मिटाते थे।

गौशालक, जिस मत का संस्थापक एवम् प्रचारक था, उस मत का एक पूर्ण अनुयायी पोलासपुर नामक नगर में रहता था। इस अनुयायी का नाम सकडालपुत्र था। सकडालपुत्र, जाति का कुम्हार था और गौशालक के चलाये हुए मत का अनन्य भक्त था।

लोकोत्तर धर्म, किसी जाति या व्यक्ति विशेष के लिये ही नहीं है, किन्तु सब के लिये है। उत्तम-से-उत्तम कहलाने वाला जिस धर्म का उपासक है, उसी धर्म की उपासना एक नीच-से-नीच कहलाने वाला भी कर सकता है। भगवान महावीर के समय में, लोगो ने, धर्म को एक ठेके की वस्तु बना ली थी, और नीच-अछूत-कहलाने वाले शूद्रो को उससे वंचित कर दिया था। इतना ही नहीं, बल्कि इन धर्म से वंचित लोगों पर, धर्म के नाम से अत्याचार भी किया जाता था। भगवान महावीर ने इस प्रथा का भी विरोध किया और अपने धर्म में सब को स्थान दिया। भगवान की इस नीति का अनुकरण गौशालक ने भी किया था, इसी कारण—कुम्हार होते हुए भी—सकडालपुत्र उसके मत का अनुयायी था।

जिस प्रकार भगवान महावीर के गृहस्थ अनुयायी 'श्रमणो-

पासक' कहलाते हैं, उसी प्रकार गौशालक के मत के गृहस्थ अनुयायी "आजीविकोपासक" कहलाते थे। आजीविकोपासक लोग, गौशालक को ही अपना तीर्थङ्कर तथा उपास्य मानते थे। गौशालक का मत किसी सच्चे सिद्धान्त के ऊपर स्थित नहीं था; तथा गौशालक, नक़ली तीर्थङ्कर था, इसलिये उसका मत अधिक समय तक नहीं चला और अब तो उसके मत की बात केवल जैन-शास्त्रों में ही मिलती है।

सकडालपुत्र, गौशालक के मत का पूर्ण अनुयायी था। यद्यपि वह 'धर्म' नामधारी अधर्म में फंसा हुआ था, लेकिन उसने उस मत का खूब मनन किया था, जिससे उसे गौशालक के मत पर ऐसा विश्वास हो गया था, कि उसकी हड्डी-मज्जा में भी आजी-विक मत का प्रेमानुराग भरा हुआ था। सकडालपुत्र ने, अन्ध श्रद्धालु की तरह गौशालक के मत पर भी विश्वास नहीं किया था, किन्तु उसने अपनी बुद्धि के अनुसार, उस मत के विषय में गौशालक से खूब पूछताछ की थी और संशय कर करके हृदय का समाधान कर लिया था।

किसी बात—और विशेषतः किसी धर्म पर बिना परीक्षा किये ही एक दम से विश्वास कर लेना अन्धश्रद्धा कहलाती है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह जिस धर्म को स्वीकार करना चाहता है, या स्वीकार किया है, उसके विषय में खूब अनुसन्धान करले,

तथा अपने हृदय का सब प्रकार से समाधान करले। जब तक धर्म के प्रति हृदय में किसी प्रकार की शंका है धर्म की किसी भी बात के विषय मे संशय है, तब तक वह, धर्म का पूर्ण अनुयायी नहीं कहला सकता। पूर्ण-अनुयायी तभी कहलावेगा, जब उसने धर्म-विषयक सभी शंकाएँ मिटाली हो और अब उसके मन में धर्म की ओर से किसी प्रकार का संशय शेष न रह गया हो। धर्म के विषय में जितना अधिक संशय किया जायगा, धर्म पर उतना ही अधिक विश्वास होगा। वैसे तो धर्म की किसी बात के विषय में संशय करना प्रमाद है और प्रमाद, कांक्षा मोहनीय कर्म के बन्ध का हेतु है, लेकिन संशय दो प्रकार का होता है। एक संशय वस्तु निर्णयात्मक होता है और दूसरा संशय अविश्वास रूप होता है। पहले प्रकार का संशय, प्रमाद में नहीं है, किन्तु ज्ञान को बढ़ाने-वाला और ईहाज्ञान का एक भेद है। इस प्रकार का संशय, समय-समय पर गौतम स्वामी को भी हुआ है। गौतम स्वामी के विषय मे "जाय संसये" पाठ शास्त्र में जगह-जगह मिलता है। इस प्रकार वस्तु निर्णयात्मक संशय, प्रमाद में नहीं है। इस संशय के लिये गीता में कहा है—

*न संशयं मना रूह्यो*

"संशय में प्राप्त हुए विना, कोई भी आत्मा, कल्याण नहीं कर सकता।"

दूसरा–अविश्वासरूप–संशय, आत्मा का पतन कर देता है। ऐसे संशय के लिये कहा है—

*संशयात्मा विनश्यति*

"संशय से, आत्मा का विनाश हो जाता है।"

प्रमाद में, इसी संशय की गणना है और इसी संशय से कर्म-बन्ध होता है। धर्म की किसी बात के विषय में, संशय करना और उस संशय को नहीं मिटाना–हृदय में रहने देना–धर्म पर अविश्वास उत्पन्न करता है और धर्म पर अविश्वास होना, कर्म-बन्ध का हेतु है।

सकडालपुत्र ने, गोशालक के मत के विषय में, सन्देह कर करके सब शंकाएँ निवारण कर ली थीं, तथा उस मत को शुद्ध रूप से अपने हृदय में स्थान दिया था। वह, आजीविक मत को ही धर्म अर्थ एवम् परमार्थ मानता था, शेष सबको अनर्थ कहता था।

किसी विषय में संशय तभी हो सकता है, जब, उस विषय का मनन किया जावे। उस विषय पर विचार किए बिना–उसको जाने बिना–शंका हो तो किस पर और कैसे? उदाहरण के लिये, एक मूर्ख आदमी के हाथ में पुस्तक देकर उससे पूछा जावे कि इस पुस्तक के विषय में क्या सन्देह है? तो इस प्रश्न के उत्तर में वह अधिक-से-अधिक यही कह सकता है, कि–मुझे

इस पुस्तक के विषय में कोई सन्देह नहीं है। यद्यपि उसका यह उत्तर ठीक नहीं है, लेकिन जब वह उस पुस्तक को पढ़ ही नहीं सकता है, तो दूसरा उत्तर क्या दे? तात्पर्य यह कि, धर्म के विषय में कोई संशय तभी हो सकता है, जब धर्म पर विचार किया जावे, धर्म का मनन किया जावे। सकडालपुत्र ने गोशालक के मत पर अपनी बुद्धि-अनुसार खूब विचार किया था, उसका खूब मनन किया था और ऐसा करते हुए उसे जो शंकाएँ हुईं, उनका उसने गोशालक से समाधान भी कर लिया था।

सकडालपुत्र, तीन क्रोड़ सोनैये की सम्पत्तिवाला था। उसने, अपनी इस सम्पत्ति में से एक क्रोड़ सोनैये कोष में रख छोड़े थे, एक क्रोड़ व्यापार में फैला रखे थे, और एक क्रोड़ की स्थावर जंगम सम्पत्ति थी। उसका व्यवसाय वही था, जो कुम्हारों का हुआ करता है। अर्थात, मिट्टी के बर्तन बना-बना कर बेंचना, उसका व्यवसाय था। इस व्यवसाय के लिये पोलासपुर नगर के बाहर उसकी पाँच सौ दूकानें थी। जिन पर कई कार्यकर्त्ता भी नियुक्त थे।

आज कई जैन धर्मानुयायी शायद यह कहेगे, कि सकडालपुत्र, मिट्टी के बर्तन बनाने का व्यवसाय करता था, तब तो वह महारंभी था! सकडाल पुत्र, मिट्टी के बर्तन बनाने का आरंभ अवश्य करता था, लेकिन उसकी यह आजीविका, वंश-परम्परा

से चली आती थी। अपनी पैतृक आजीविका करता हुआ भी, वह हृदय का मलिन न था। उसकी आन्तरिक और व्यवहारिक नीति, अन्य गृहस्थों की अपेक्षा खराब न थी। इसके सिवा अग्नि, मिट्टी, पानी आदि का आरम्भ, महारम्भ भी नहीं कहलाता है, तथा आगे यह बात और सिद्ध की गई है, कि सकडालपुत्र महारम्भी नहीं था।

सकडालपुत्र की पाँच सौ दूकानें, नगर के बाहर इसलिये थीं, कि बर्तन बनाकर पकाने में जो धुआँ होता है, वह नगरमे नफैले। नगर में धुआँ फैलने से, नगर-निवसियों के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। आज भी यह देखा जाता है, कि कुम्हारों के घर अधिकांश में नगर या ग्राम से बाहर ही होते हैं।

पहले के लोग अपने पास की समस्त सम्पत्ति को बाहर ही नहीं फैला देते थे, किन्तु जितनी सम्पत्ति बाहर-व्यापार में फैली हुई रखते थे, लग-भग उतनी ही अपने कोष में समय-असमय के लिये सुरक्षित भी रखते थे। उनका व्यवहार, वट-वृक्ष की तरह होता था। कहाजाता है कि वट-वृक्ष जितना ऊपर उठा हुआ होता है, भूमि मे भी अपनी उतनी ही जड़ रखता है। पूर्व समय के लोग, ऐसा ही व्यापार व्यवहार किया करते थे। आज के बहुत से लोग थोड़ी हैसियत होते हुए भी अधिक हैसियत वाले बनने के लिए, बाह्याडम्बर बढ़ा लेते

हैं, लेकिन पूर्व के लोग, अपनी हैसियत से अधिक बाह्याडम्बर नहीं रखते थे। ऐसा करने के कारण उनके लिये आज के लोगों की तरह दिवाला निकालने का समय भी नहीं आता था।

उस समय के लोग, जितने क्रोड़ सोनैये का व्यापार करते थे, अपने यहाँ उतने ही गोकुल भी रखते थे। एक गोकुल, दस हजार गायों का होता है। गायें पालने के कारण, उनके यहाँ दूध-घी आदि पौष्टिक पदार्थों की भी कमी नहीं रहती थी, और गौओ की सहायता होने से—आर्थिक स्थिति भी नहीं बिगड़ती थी। सकडालपुत्र का व्यापार एक क्रोड़ सोनैये का था, इसलिए उसके यहाँ भी गौ का एक गोकुल था।

सकडालपुत्र के, अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी। अग्निमित्रा, रूपवती और बुद्धिमती होने के साथ ही, पतिपरायणा भी थी। पति की इच्छा ही उसकी इच्छा थी, पति की इच्छा के विरुद्ध वह कोई काम नहीं करती थी।

सकडालपुत्र का जीवन, अनियमित न था, किन्तु नियमित था। वह कार्य के समय कार्य करता, धर्म-ध्यान के समय धर्म-ध्यान करता और विश्राम के समय विश्राम करता। इस प्रकार उसके प्रत्येक कार्य नियमित थे।

आज-कल के लोगों में, अनियमितता अधिक देखने में आती है। कई लोग, सोने के समय तो जागते हैं और जागते

के समय सोते हैं। उनके समीप, समय का कोई मूल्य ही नहीं है, न वे किसी नियम का पालन ही आवश्यक समझते हैं। कई लोग, अपना समय इधर-उधर मे नष्ट कर देते हैं और धर्म-ध्यान के लिये, सांसारिक कामों के कारण, समय का अभाव बतलाते हैं। यद्यपि वे चाहें तो कम-से-कम अपने इधर-उधर में नष्ट होने वाले समय को धर्मध्यान में लगा सकते हैं, लेकिन ऐसा नहीं करते, इसलिए यही कहा जा सकता है कि उन्हे धर्म से भली प्रकार प्रेम नहीं है। ऐसे लोग, अपना समय इधर उधर में नष्ट करके धर्मध्यान से भी वंचित रहते हैं और साथ ही अनियमितता के कारण अपना स्वास्थ्य भी नष्ट करते हैं। पूर्व समय के लोग प्रत्येक कार्य नियत समय पर करते थे, किसी भी कार्य में अनियमितता नहीं होने देते थे। ऐसा करके वे लोग धर्म-सेवा का भी लाभ लेते थे और उनका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता था।

सकडालपुत्र, नियत समय पर अपने सांसारिक कामो से निवृत्त होकर धर्मध्यान किया करता था। धर्मध्यान के लिये उसने एक अशोक-वाटिका बना रखी थी। वह उसी अशोक-वाटिका बना रखी थी। वह उसी अशोक-वाटिका में बैठ कर धर्मध्यान किया करता। यद्यपि उसका धर्मध्यान गोशालक के मतानुसार हुआ करता था, लेकिन उसकी पूर्व-पुण्याई अच्छी थी, जिसके प्रताप से उसे केवली-प्ररुपित धर्म प्राप्त होना था।

पूर्व पुण्याई के प्रताप से एक दिन सकडालपुत्र को—जब वह अपनी वाटिका में बैठा हुआ धर्मध्यान कर रहा था, आकाश-स्थित एक देव दिखाई पड़ा। वह देव, पाँचवर्ण के सुन्दर वस्त्र, कानो में कुण्डल और गले में रत्नों का दिव्य हार पहिने हुए था। उसके मुख का तेज सभी दिशाओं को आलोकित करता था। पैरों में पहिनी हुई रत्न जटित घूँघरमाल की मधुर झन्कार, सब ओर सुनाई दे रही थी।

देव, अवधिज्ञानी हुआ करते हैं। उनकी बुद्धि, मनुष्यों की बुद्धि की अपेक्षा अधिक विकसित रहती है। सकडालपुत्र, देखने में तो अग्नि, मिट्टी, पानी आदि का बहुत आरम्भ समारम्भ करता था, लेकिन देव ने उसमें विशेष प्रकार की उदारता और पुण्य-भावना देखी, तभी वह सकडालपुत्र की दृष्टि में आया। सांसारिक क्रिया चाहे स्वहस्त से की जावे या परहस्त से कराई जावे, उसका आरम्भ अवश्य लगता है। सांसारिक जीवन व्यतीत करता था, इसलिए इस नियम से सकडालपुत्र भी मुक्त नहीं था, लेकिन इस आजीविका के लिये किये जाने वाले अग्नि-मिट्टी आदि के आरम्भ के साथ ही हृदय की भावना को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है। यदि हृदय की भावना पर दृष्टि रखना निरर्थक हो, केवल आरम्भ ही देखा जाता हो, तो ऐसी दशा में सकडालपुत्र के लिए देवता क्यों आया? सकडाल-

पुत्र, अग्नि पानी आदि का बहुत आरम्भ करता था, फिर भी देवता उसके यहाँ आया, इससे प्रकट है कि सकडालपुत्र जो आरम्भ करता था, उस आरम्भ की अपेक्षा उसमें आन्तरिक गुण विशेष थे। जिस प्रकार, अशुद्ध पात्र में शुद्ध वस्तु नहीं डाली जाती, उसी प्रकार जिसका हृदय मलिन एवम् ईर्ष्या-द्वेष से भरा हुआ है, उसको किसी प्रकार की सहायता देने, देवता, नहीं आया करते। देवता तभी सहायता देने आते हैं, जब हृदय में अपवित्रता न हो।

आकाशस्थित देवता ने सकडालपुत्र से कहा—हे देवानुप्रिय, कल यहाँ हम देवों के भी देव महामहान् पधारने वाले हैं। वे महा-महान, भूत भविष्य और वर्तमान काल की बात को स्पष्ट जानते हैं, तथा तीनों लोक को हस्तरेखा के समान प्रत्यक्ष देखते हैं। वे, त्रिलोकज्ञ तथा त्रिकालज्ञ हैं। तेजोमय हैं। सारा ऐश्वर्य उनके तेज में छिपा हुआ है। उनके दर्शन, तीनों लोक के प्राणी हर्ष सहित करते हैं और अपना अहोभाग्य मानते हैं। हम देवता भी उनके दर्शन करने को उत्कण्ठित रहते हैं, तथा दर्शन पाकर गद्गद् हो जाते हैं। उन महामहान को सबसे महान् मान कर तीनो लोक-स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—के प्राणियों ने उनकी महापूजा की है। वे ही त्रिलोकीनाथ तुम्हारे यहाँ आने वाले हैं। हे देवानुप्रिय, वे त्रिलोक की विभूति—महामहान जब

पधारें, तब तुम उन मंगलमय प्रभु को वन्दना करना और भक्ति-भाव-सहित अपने यहाँ लाकर शय्या संथारा आदि प्रतिलाभित करना।

देवता ने यह सूचना भगवान महावीर के पधारने के विषय में दी है। भगवान् महावीर को, महामहान् इसलिए कहा जाता है कि उन्होंने 'किसी जीव को मत मारो' यह महान् उपदेश दिया था। भगवान् महावीर, तीनों काल को जाननेवाले और तीनों लोक को देखने वाले थे। उनमें यह शक्ति, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र उत्पन्न हो जाने से प्रकट हुई थी। यद्यपि सम्यक् ज्ञान दर्शन और चरित्र, आत्मा में सदा ही विद्यमान रहते हैं, लेकिन वे कर्मों के आवरण से ढके रहते हैं। जब उन पर से कर्म रूपी आवरण हट जाता है, तब वे सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। भगवान महावीर, कर्म रूपी आवरण को नष्ट कर चुके थे, इससे उनका संपूर्णज्ञान दर्शन और चारित्र प्रकट हो गया था। आत्मा और परमात्मा में यही अन्तर है। आत्मा के सम्यक् ज्ञान दर्शन तथा चारित्र, कर्म रूपी आवरण से ढँके रहते हैं, और परमात्मा के सम्यक् ज्ञान दर्शन तथा चारित्र पर कर्म का आवरण नहीं होता। जब आत्मा अपने सम्यक् ज्ञान दर्शन और चरित्र पर से कर्म का आवरण हटा देता है, कर्मों को नष्ट कर देता है, तब वह परमात्मा बन जाता है।

"बौद्ध पर्व" नामकी ऐतिहासिक पुस्तक में लिखा है, कि सिंहल भाषा में जो बौद्ध ग्रन्थ है, उसके अनुसार उस समय में पूर्णकाश्यप, मंखलीपुत्र-गौशालक, अजित केश कंवल, कुकुध-कात्यायन, संजय वेलास्थिपुत्र, और निग्रंथ ज्ञातपुत्र, ये छः तीर्थङ्कर थे। हो सकता हैं कि उक्त पुस्तक की बात सही हो, लेकिन यह बात निर्विवाद है कि भगवान महावीर का तीर्थङ्कर पद जिस प्रकार सर्वज्ञ आदि विशेषणों और गुणों से विभूषित था, वैसा दूसरे किसी का नहीं था। भगवान महावीर का नाम निग्रंथज्ञात-पुत्र भी है। देवता ने भगवान महावीर का जो परिचय दिया है, वह उनके विशेषणों सहित दिया है।

देवता ने, भगवान महावीर के पधारने की सूचना देते हुए सकडाल पुत्र से कहा है, कि उन महामहान् की पूजा, तीनों लोक के प्राणियों ने की है। देवता के इस कथन का यह अर्थ नहीं है, कि तीनों लोक के प्राणियो ने भगवान की पूजा जल, पुष्प, धूप दीप आदि से की हो। इस प्रकार से पूजा की जाने पर तो, भगवान महावीर के 'महामहान' विशेषण की सार्थकता ही जाती रहेगी। क्योंकि, 'मत मारो' उपदेश जल, अग्नि, वनस्पति आदि के जीवों के लिये भी है। जल, पुष्प आदि से पूजा की जाने पर, इनमें के जीव अवश्य ही मरेंगे, जिनको अपने लिये मरने देना भगवान को कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। इसके सिवा,

पूजा, पूज्य के अनुसार हुआ करती है। संसार में भी देखा जाता है, कि लोग ठाकुरजी की पूजा चन्दन, पुष्प आदि से करते हैं और भैरोंजी की पूजा, तेल बाकले आदि से। तेल बाकले से ठाकुरजी की पूजा करना, ठाकुरजी की अवज्ञा मानी जाती है। इसी प्रकार जिन भगवान ने संसार के किसी भी जीव को न मारने का उपदेश दिया है, उनकी पूजा जल पुष्प आदि से करके उनमें के जीवों का नाश करना—पूजा के नाम पर—भगवान की अवज्ञा होगी। इसलिये देवता के कथन का यह अर्थ—कि जल पुष्प आदि से भगवान की पूजा की—कदापि नहीं हो सकता। भगवान महावीर की पूजा किस प्रकार की जाती थी, इसके लिये औपपातिक सूत्र में प्रमाण मिलता है। भगवान महावीर के परम भक्त राजा कोणिक ने भगवान की पूजा की है, उसका वर्णन औपपातिक सूत्र में निम्न प्रकार से है :—

समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ तंजहा—सच्चित्ताणं दव्वाणं वीउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडियं उत्तरासगं करणेणं, चक्खु फासे अंजलि पग्गहेणं मणसोएगत्तभाव करणेणं, समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिण करेइ तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदंति णमंसित्ता, तिविहाए पज्जुवासणयाए पज्जुवासंति तंजहा काइया वाइया माणसियाए·काइयाताव संकु·

इयागगहत्थपाए सुस्सुसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंज-
लिउडे पज्जुवासंति, वाइयाएजंजं भगवंत वागरेइ तंतं एहमेयं
भंते। तहमेयं भंते। अवितहमेयं भंते! असंदिद्धमेयं भंते!
इच्छियंमेयं भंते! पडिच्छियं मेयं भंते। इच्छियपडिच्छियमेयं
भंत्ते! से जहेयं तुज्झे वदह अपडिकूलमाणे पज्जुवासंति, माण-
सियाए महता संवेगंजणइत्ता, तिव्व धम्माणुरागरत्ते पज्जुवासंति ॥

अर्थात्—राजा कोणिक, पाँच अभिगम करके भगवान महावीर के पास गया। वे पाँच अभिगम इस प्रकार हैं—१ पान फूल आदि सचित द्रव्य दूर किये, २ अचित द्रव्य वस्त्रआभूषणादि—पास ही रखे; ३ एक पट–दुपट्टे—का उत्तरासंग किया, ४ भगवान को देखते ही दोनों हाथ जोड़ कर अपनी आँखों के पास लगा लिए, और ५ मन को दूसरी ओर से रोक कर भगवान की भक्ति में एकीभाव किया। इस प्रकार पाँच अभिगम करके राजा कोणिक श्रमण भगवान महावीर के पास गया और श्रमण भगवान महावीर को तिक्खुत्ता के पाठ से वन्दना नमस्कार किया तथा तीन प्रकार से-मन से, वचन से, शरीर से–प्रभु की पूजा-भक्ति करने लगा। शरीर मन और वचन से कोणिक राजा ने इस प्रकार उपासना की। हाथ पाँव सिकोड़ कर, दोनों हाथ जोड़ नम्रता तथा विनय-पूर्वक भगवान के सामने बैठ गया और भगवान की सुश्रुषा करने लगा। इस प्रकार शरीर से भक्ति-उपासना करने लगा। जैसे-जैसे भगवान वचन उच्चारते थे, तैसे-तैसे–हे भगवान! ऐसा ही है,हे भगवान! तथ्य है; हे भगवान्! अवश्य ही तथ्य है; हे भगवान! सन्देह रहित है; हे भगवान! मैं इच्छता

हूँ, हे भगवान! मैं विशेष इच्छता हूँ और आपने जो कुछ कहा, वह अप्रतिकूल है—कह कर भगवान् की वचन द्वारा सेवा-भक्ति करने लगा। मन में महान् वैराग्य भाव धारण करके, एवं तीव्र धर्मानुरागरक्त बनकर, मन द्वारा भगवान की सेवाभक्ति करने लगा।

इस पाठ से प्रकट है, कि भगवान महावीर की पूजा तीन प्रकार से की जाती थी। मानसिक, वाचिक, और कायिक। मन में उनका ध्यान करना, स्मरण करना—मानसिक पूजा है। वचन से उनके गुणगान करना, वाचिक पूजा है और पांचो अंग झुका कर नम्रता पूर्वक नमस्कार करना, कायिक पूजा है।

भगवान वीतराग की पूजा, इसी प्रकार होती है। जो पदार्थ राग पैदा करने के कारण माने जाते हैं, उन्हे वीतराग भगवान पर चढ़ाना, या भेंट करना, पूजा नहीं, किन्तु उनकी अवज्ञा है। राग पैदा करने वाली वस्तुओ को तो, भगवान पहले ही त्याग चुके हैं। उन त्यागी हुई वस्तुओ को, जिनने त्यागी है उन्हीं पर चढ़ाना, उनकी पूजा नहीं है।

सकडालपुत्र को, भगवान महावीर के पधारने की उक्त प्रकार से सूचना देकर, देवता चला गया। इधर सकडालपुत्र, देवता की सूचना पर से-विचार करने लगा, कि देवता ने जिन महा-महान के आने की सूचना दी है, वे महामहान मेरे गुरु गोशालक के सिवा दूसरे कौन हो सकते हैं? सकडालपुत्र, गोशालक का

पूर्ण-भक्त था, इसलिये देवता ने—भगवान महावीर के लिये, जो विशेषण कहे थे, वे सब विशेषण उसे गौशालक के लिये ही जान पड़े। वह, रात भर यह विचारता हुआ प्रसन्न रहा, कि कल मेरे प्रभु गौशालक पधारने वाले है। मैं उन्हें वन्दना नमस्कार करूंगा।

यह बात दूसरी है, कि सकडालपुत्र एक मिथ्या मत का अनुयायी था और जिस गौशालक के प्रति उसके हृदय मे भक्ति है, वह गौशालक, उस मिथ्या-मत का संस्थापक एवम् प्रचारक था, इसलिये सकडालपुत्र की श्रद्धा-भक्ति मिथ्या है, लेकिन उसके हृदय में गौशालक के प्रति जो श्रद्धा-भक्ति है, वह दृढ़ता की अपेक्षा से अनुकरणीय है। सकडालपुत्र की यह अनुकरणीय भक्ति की धारा, थोड़े ही समय में भगवान महावीर की ओर वहने लगेगी, उस समय इसकी यह श्रद्धा-भक्ति शुद्ध और सत्य होगी। अभी सकडालपुत्र की श्रद्धा-भक्ति, मिथ्या अवश्य है, लेकिन उसके हृदय का गुरु-प्रेम—उसके हृदय की नम्रता एवम् सरलता-बिना सराहे नहीं रहा जा सकता। उसकी यह श्रद्धा-भक्ति, इस बात की शिक्षा देती है कि जब सकडालपुत्र अपने-मिथ्या मत के संस्थापक-गुरु के प्रति इतनी भक्ति रखता था, तो सत्य-धर्म-प्रचारक गुरू के प्रति लोगों की श्रद्धा-भक्ति कैसी होनी चाहिए!

दूसरे दिन पोलासपुर नगर के बाहर, सहस्राम्र-वन नाम के उद्यान में भगवान महावीर पधारे। आकाश में घूमनेवाले धर्म-चक्र एवम् वनपालादि द्वारा नगर-निवासियों को भगवान के पधारने की सूचना मिली। नगर मे से, नर-नारियो के झुण्ड भगवान के दर्शन करने के लिए सहस्राम्र-वन उद्यान की ओर चले। सकडालपुत्र को ख़बर मिली, कि सहस्राम्र-वन उद्यान में, श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं। यह ख़बर पाकर सकडालपुत्र भी, स्नानादि से निवृत्त हुआ और मंगल वस्त्र तथा बहुमूल्य आभूषण पहिन कर, दर्शन करने के लिए जाते हुए मनुष्यों के साथ सहस्राम्रवन-उद्यान की ओर चल पड़ा!

भगवान के दर्शन करने जाते समय-गृहस्थो के लिए—स्नान से निवृत्त होने का पाठ, शास्त्र में स्थान-स्थान पर मिलता है। इससे प्रकट है, कि उस समय के लोग—गृहस्थ होने के कारण, स्नान किया करते थे, लेकिन श्रावक लोग. अपने लिए यह नियम बना लेते थे, कि मैं स्नान में इतने परिमाण से अधिक पानी व्यय न करूँगा। जैसे कि आनन्द श्रावक ने, भगवान से नियम ले लिया था। भगवान का यह उपदेश है, कि गृहस्थ, प्रत्येक वस्तु के भोगोपभोग की सीमा कर ले। सीमा कर लेने पर, सांसारिक काम भी नहीं रुकते, वस्तु का दुरुपयोग भी नहीं होता, लालसा भी सीमित हो जाती है और आरम्भ भी अधिक नहीं होता।

शास्त्रों में, स्नान से निवृत्त होने के पाठ के साथ ही मंगल-वस्त्र पहिनने का पाठ भी पाया जाता है। मंगल-वस्त्र का मतलब, वे वस्त्र हैं, जो मंगल के द्योतक हों। संसार में आज भी दो प्रकार के वस्त्र देखे जाते हैं ; एक मांगलिक और दूसरे अमांगलिक। यूरोपियनों में जब कोई मर जाता है, तब वे लोग काले वस्त्र पहिना करते हैं। उनमें काले वस्त्र पहिनना, अमंगल-सूचक है। इसके विपरीत जो वस्त्र पहिने जाते हैं, वे अमङ्गल के द्योतक नहीं माने जाते। भारत में भी, सिर पर सफेद और अस्त-व्यस्त वस्त्र बाँधना, अमंगल का सूचक माना जाता है और पीले वस्त्र पहिनना, मंगल माना जाता है। इसी प्रकार की कोई पद्धति पूर्व समय में भी रही होगी, इसीसे भगवान महावीर के पधारने पर, अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिए तथा, भगवान का पधारना हमारे लिये मंगल-प्रद है, यह जताने के लिये उस समय के लोग देश-काल-प्रचलित मंगल वस्त्र पहिना करते थे।

सहस्राम्रवन उद्यान में पहुँच कर, सकडालपुत्र ने देवता के कथनानुसार-भगवान महावीर को प्रदक्षिणा सहित वन्दना नमस्कार किया।

सब लोगों के वन्दना-नमस्कार कर चुकने और यथा-स्थान बैठ जाने पर, भगवान महावीर अपनी पवित्र वाणी से सबको

उपदेश देने लगे। भगवान की वाणी से उस समय किस उपदेश की धारा बही थी, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन भगवान की सकडालपुत्र से फिर जो बात-चीत हुई, उस पर से—अनुमानतः भगवान ने निम्न उपदेश फ़रमाया था—

ऐ संसार के प्राणियो! आज तुम लोग जिस संसार में भूल रहे हो, उस संसार से तुम्हारा हित नहीं हो सकता। संसार, क्षण-भंगुर और अनित्य है—इसके प्रत्येक पदार्थ जड़ है-लेकिन तुम अविनाशी तथा चैतन्य हो। चैतन्य एवम अविनाशी होकर नाशवान जड़ को अपना मानना, महान् भूल है। तुम्हारा हित तभी होगा, जब तुम संसार के पदार्थों को जड़, नश्वर, एवम् सार-रहित मान कर इनसे मोह छोड़ दो और अपने चैतन्य-स्वरूप पर विचार करो। अपनी चैतन्यता का विचार करते रहने पर एक दिन वह होगा, जब तुम जीवन-मुक्त होजाओगे। जीवन-मुक्त होने पर, न तो तुम्हें इस संसार में पुनः-पुनः जन्म लेना पड़ेगा, न मरना पड़ेगा, न इसमें होनेवाले संयोग-वियोगादि के, दुःख ही उठाने पड़ेंगे। इसलिये, संसार से मोह छोड़कर, अपने चैतन्य-रूप पर विचार करो।

संसार से मोह छूटने और अपने चैतन्य रूप पर विचार करने की क्षमता, संयम से होती है। संयम, मन तथा इन्द्रियों के निरोध से होता है, और मन तथा इन्द्रियों का निरोध, त्याग-

लालसाओं को सीमित करने से होता है। त्याग, धर्म की शरण लेने से ही हो सकता है। धर्म को समझकर उसे अपनाने पर, त्याग की बुद्धि होगी, लालसाएँ सीमित होंगी और मन, वश में रहेगा। मन वश में होने पर इन्द्रियें अपने विषयों की ओर न दौड़ेंगी और ऐसा होने पर—धीरे-धीरे—संसार से मोह छूटता जावेगा। संसार से जैसे-जैसे मोह छूटता जावेगा, आत्मचिन्तन की क्षमता वैसे-ही-वैसे अधिक होगी। जब मोह पूरी तरह नष्ट हो जावेगा, तथा आत्मा अपने रूप को भली प्रकार जान लेगा, तब आत्मा जीवन-मुक्त हो जावेगा—अर्थात् ऐसी अवस्था में पहुँच जावेगा, जिसमें न भय है, न शोक और न रोग है, न दुःख। इस अवस्था में पहुँचा हुआ आत्मा, 'सिद्ध' कहाता है। यह सिद्धावस्था प्राप्त होने का मूल उपाय, धर्म की सेवा है, इसलिये धर्म को अपनाओ।

तुम कहोगे, कि धर्म किसे कहते हैं, और हम उसे क्यों कर पहिचानें? इसका उत्तर यह है कि, जो आत्मा को दुर्गति में पड़ने से बचा कर सुगति प्राप्त करावे, एवम् जो राग-द्वेष रहित—वीतराग—का कहा हुआ हो, उसका नाम 'धर्म' है। उन समस्त सद्कार्यों का समावेश धर्म में हो जाता है, जिन्हे आत्मा, निःस्वार्थ और निष्पक्ष होकर, समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझता हुआ, एवम् किसी को कष्ट में न डालता हुआ, करे। धर्म की यह व्या-

ख्या, संक्षिप्त में ही बतलाई है, पूर्ण व्याख्या समझने-समझाने के लिये तो विशेष समय की आवश्यकता है।

धर्म में, पुरुषार्थ प्रधान है। बिना पुरुषार्थ, किसी भी कार्य में सिद्धि नहीं मिलती, तो धर्म में—बिना पुरुषार्थ—सिद्धि कैसे मिलेगी ? यद्यपि कुछ लोग, ईश्वर, काल, स्वभाव और होनहार को कर्त्ता अवश्य मानते हैं, लेकिन दूसरे को कर्त्ता मान कर आप बैठे रहना—अपने-आपको कर्तृत्व से मुक्त समझना—भूल है। काल, स्वभाव और होनहार, को लोग जड़ मानते हैं। जड़ अपने-आपको ही नहीं समझता, तो वह कार्य सम्पादन में समर्थ कैसे हो सकता है ? रही ईश्वर की बात। ईश्वर, कोई व्यक्ति विशेष नहीं है, और वैसे सभी आत्मा ईश्वर हैं, लेकिन पूर्ण ईश्वर वही आत्मा है, जो राग-द्वेष रहित हो गया है। यदि संसार के सब प्राणी राग-द्वेष रहित हो जावें तो सभी प्राणी ईश्वर बन जावें। इस सांसारिक आत्मा की अपेक्षा से तो ईश्वर कर्त्ता हो सकता है, लेकिन यदि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा से भिन्न माना जावे, तो यह भूल भी है और इस प्रकार के ईश्वर को कर्त्ता मानने से अनेक बाधाएँ भी होंगी। ईश्वर, आत्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु कर्म-बन्धन रहित शुद्ध आत्मा ही ईश्वर है। इसलिए प्रत्येक प्राणी, अपने सुख-दुःख हानि-लाभ आदि का कर्त्ता है। यह बात दूसरी है, कि निमित्त रूप से दूसरे भी कर्त्ता हों, लेकिन प्रधान

कर्त्ता आत्मा ही है। कर्त्ता, प्रत्येक—अच्छे या बुरे—कार्य, पुरुषार्थ से ही कर सकता है, इसलिये धर्म में भी पुरुषार्थ ही प्रधान है। अतः आत्मा को कर्त्ता और पुरुषार्थ को प्रधान साधन मानकर धर्म की शरण आओ, जिससे तुम्हारा कल्याण हो और संसार-विच्छेद करके मुक्ति प्राप्त कर सको।

भगवान का उपदेश समाप्त हो चुकने पर, चारों ओर धन्य-धन्य और जय-जय की ध्वनि होने लगी। सब श्रोता, भगवान् के उपदेश को सुनकर आल्हादित थे, लेकिन सकडालपुत्र कुछ और ही सोच रहा था। वह सोच रहा था, कि देवता ने किन महामहान् के आगमन की सूचना दी थी? क्या उसने इन—श्रमण भगवान महावीर—के लिये ही मुझसे कहा था, कि वन्दना-नमस्कार करना और स्थान, पाट-पाटले आदि प्रतिलाभना? मैं तो सोचता था, कि देवता ने मेरे धर्माचार्य—गोशालक—के पधारने की सूचना दी है, लेकिन जान पड़ता है कि देवता ने उनके विषय में नहीं, किन्तु इन्हीं के विषय में सूचना दी थी। क्योंकि, यदि वह सूचना मेरे गुरु के विषय में होती, तो वे—मेरे गुरु गोशालक—अवश्य पधारते। वे नहीं पधारे और श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं, इसलिये निश्चिय ही, देवता की दी हुई सूचना, मेरे गुरु के विषय में नहीं थी, इन्हीं के विषय में थी। यद्यपि ये मेरे गुरु नहीं हैं, फिर भी देवता के कथनानु-

-सार मुझे इनकी सेवा करनी चाहिए।

सकडालपुत्र, अपने मन में इस प्रकार के संकल्प-विकल्प कर रहा था, इतने ही में भगवान महावीर ने सकडालपुत्र से पूछा कि, सकडालपुत्र, कल जब तू अपनी अशोकवाटिका में बैठा था, तब—क्या तेरे पास एक देव आया था और उसने महामहान् के आगमन की सूचना देकर तेरे से यह भी कहा था, कि उन महामहान् को वन्दना-नमस्कार करना, तथा भात, पानी, पाट आदि प्रतिलाभना ?

भगवान का प्रश्न सुनकर, सकडालपुत्र चकित रह गया। उसने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया कि—हाँ भगवन्, देवता आया था और उसने ऐसा कहा था। सकडालपुत्र का उत्तर सुनकर, भगवान ने उससे कहा कि—उस देवता के चले जाने पर, तेरे मन में ये विचार भी आये थे कि, देवता के कहे हुए गुण, मेरे गुरु गौशालक में ही हो सकते हैं, लेकिन हे सकडालपुत्र, देवता ने गौशालक का आगमन नहीं दर्शाया था, यह तू निश्चय समझ।

सकडालपुत्र को, यह विचार कर आश्चर्य हो रहा था, कि भगवान ने इन अप्रकट बातों को कैसे जान लिया। अप्रकट बात भगवान से सुनकर, सकडालपुत्र को विश्वास हो गया, कि भग-वान महावीर ही महामहान्, उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक और

तथ्यकर्म से प्राप्त सम्पदा से समृद्ध हैं, तथा देवता ने कल इन्हीं के विषय में सूचना दी थी। देवता की सूचनानुसार इनसे, मेरी दूकान पर पधारने की प्रार्थना करनी चाहिए।

सकडालपुत्र ने, भगवान महावीर को वन्दना-नमस्कार करके, उनसे प्रार्थना की कि, नगर के बाहर मेरी पाँचसौ दूकाने हैं; कृपा करके आप वहाँ पधारिए, वहाँ आपको सब प्रकार से सुविधा होगी।

सकडालपुत्र को विनम्र-प्रार्थना देख-सुनकर, भगवान ने उसके यहाँ पधारना स्वीकार किया और पधारे। सकडालपुत्र की निर्दोष दूकान में भगवान विराजे। देवता के कथनानुसार, सकडालपुत्र ने पाट-पाटले आदि प्रतिलाभ कर, भगवान की सेवा की।

भगवान, त्रिलोकीनाथ हैं, लेकिन उनका एक छोटे-से-छोटा भक्त भी, उन्हें वश में कर लेता है। उनके पास, जाति-पाँति या ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है। यदि भगवान, जाति-पाँति या ऊँच-नीच का भेद मानते होते, तो जिनकी सेवा के लिये इन्द्र भी लालायित रहता है, वे भगवान, सकडालपुत्र ( जो जाति का कुम्हार है ) के यहाँ न पधारते। भगवान, सर्वज्ञ हैं, वे यह जानते हैं कि इसके यहाँ अग्नि, पानी, मिट्टी, चाक घूमने आदि का बहुत आरम्भ होता है, और सकडालपुत्र ने यह भी प्रकट कर दिया था कि, मेरी पाँचसौ दुकानें हैं, फिर भी भगवान ने

उसके यहाँ पधारने और विराजने में, इस आरम्भ का विचार नहीं किया। इससे प्रकट है, कि भगवान ने सकडालपुत्र के इस आरम्भ की अपेक्षा उसमें आन्तरिक गुण विशेष देखे। यदि ऐसा न होता, तो भगवान उसके यहाँ पधारते ही क्यों? उसके यहाँ भगवान यह दृष्टि में रख कर ही पधारे होंगे, कि सांसारिक-जीवन, निरारम्भी नहीं हो सकता, हाँ, अल्पारम्भी हो सकता है और सकडालपुत्र का जीवन, महारम्भी नहीं है। तथा इस आरंभ के साथ ही इसमें आन्तरिक गुण विशेष हैं।

भगवान, सकडालपुत्र के यहाँ पधारे इससे यह शिक्षा मिलती है कि, जाति-पाँति या सूक्ष्म हिंसा के कारण किसी से घृणा करना—किसी को पापी कहना—उचित नहीं है।

भगवान की सेवा से अवकाश प्राप्त करके, सकडालपुत्र अपना कार्य करने लगा। उसने, मिट्टी के—चाक द्वारा बनाये हुए—कच्चे बर्तन—धूप और वायु द्वारा सुखाने के अभिप्राय से—घर में से निकालकर बाहर रखे।

यद्यपि, सकडालपुत्र के यहाँ पर्याप्त नौकर-चाकर थे, लेकिन वह स्वयं भी कार्य करता था। केवल नौकरों के भरोसे, या पूँजी के आधार पर ही उसका जीवन न था। पूर्व समय के लोग अपना व्यवसाय नौकरों के ही आधार पर नहीं छोड़ देते थे, न यह विचार कर अकर्मण्य ही बन जाते थे, कि हमारी सम्पत्ति

से कारोबार हो रहा है, इसलिये हम काम क्यों करें। जिस समय ऐसा था, उस समय—आज की तरह—पूँजीपतियों के प्रति श्रमजीवियों के हृदय में द्वेष भी नहीं होता था। क्योंकि, जिस प्रकार श्रमजीवी काम करते थे, उसी प्रकार उनके स्वामी पूँजीपति—भी काम करते थे और जिस रहन-सहन से पूँजीपति अपना जीवन-निर्वाह करते थे, उसी रहन-सहन से अपने यहाँ काम करनेवालों के जीवन-निर्वाह का भी ध्यान रखते थे।

भगवान, जानते थे कि, सकडालपुत्र, गोशालक का अनुयायी है और होनहार को माननेवाला है। सकडालपुत्र की इस मान्यता को छुड़ाकर, उसके हृदय में पुरुषार्थवाद की स्थापना करने के उद्देश्य से ही, भगवान, सकडालपुत्र के यहाँ पधारे थे। भगवान, अपनी सर्वज्ञता से यह जानते थे, कि अब सकडालपुत्र के मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का अन्त हो रहा है, इसलिये इस समय इसे सच्चे धर्म का स्वरूप बताने पर, यह उसे धारण कर लेगा। भगवान ने यह जानते हुए भी सकडालपुत्र को समझाने का पुरुषार्थ किया, होनहार के भरोसे नहीं रहे।

जिस समय, चाक से उतारे हुए मिट्टी के कच्चे बर्तन बाहर धूप में रखे थे, वह समय भगवान ने सकडालपुत्र को समझाने के लिये उपयुक्त समझा। भगवान ने, सकडालपुत्र से पूछा कि—सकडालपुत्र, ये मिट्टी के बर्तन किस प्रकार बने हैं?

जो भगवान, त्रिलोकज्ञ और त्रिकालज्ञ हैं, क्या वे यह नहीं जानते कि मिट्टी के वर्तन किस प्रकार बनते हैं ? वे, सब-कुछ जानते थे—उनसे कोई बात छिपी हुई नहीं थी—लेकिन उद्देश्य की सिद्धि के लिये भागवान ने, सकडालपुत्र के मुख से ही यह कहलाना उचित समझा, कि ये वर्तन किस प्रकार बने हैं ?

भगवान के प्रश्न के उत्तर में, सकडालपुत्र ने कहा कि—भगवान, इन वर्तनों को बनाने के लिये पहले मिट्टी लाई गई। उस मिट्टी में, राख आदि मिलाई गई और पानी से भिगो कर वह खूब रौंदी गई। जब मिट्टी, वर्तन बनाने के योग्य हो गई, तब उसे चाक पर रखकर ये बर्तन बनाये गये।

भगवान ने, सकडालपुत्र से पूछा कि—सकडालपुत्र, ये मिट्टी के वर्तन, पुरुपार्थ से बने हैं, या विना पुरुपार्थ ही बने हैं?

भगवान का यह प्रश्न सुनकर, सकडालपुत्र को अपनी मान्यता का ध्यान आगया। वह समझ गया कि, भगवान महा-वीर, मेरे गुरु के सिद्धान्त के स्थान पर, अपना सिद्धान्त सिद्ध करना चाहते हैं। वह, भगवान के प्रश्न के उत्तर में कहने लगा कि—भगवान, जो कुछ भी होता है, वह सब होनहार से ही होता है, पुरुपार्थ से कुछ नहीं होता। मिट्टी के वर्तन बनाने में हमने जो-कुछ किया है, वह सब होनहार के वश होकर। इस-लिये, ये मिट्टी के वर्तन, पुरुपार्थ के अभाव और होनहार से

सद्भाव में बने हैं।

सकडालपुत्र से भगवान फिर कहने लगे कि—सकडालपुत्र, तू ने अभी जो-कुछ कहा है, उससे तो पुरुषार्थ की ही सिद्धि होती है। ये मिट्टी के बर्तन, पहले नहीं थे, किन्तु बनाने से बने हैं, और जब बनाने से बने हैं, तो इनके बनाने में क्रिया अवश्य ही की गई है। क्रिया है, तो कर्त्ता भी अवश्य है। क्योंकि, बिना कर्त्ता के क्रिया नहीं हो सकती और बिना क्रिया के, कर्म नहीं होता। क्रिया, कर्त्ता के पुरुषार्थ से ही होती है, पुरुषार्थ के अभाव में क्रिया नहीं होती। इस प्रकार इन बर्तनों के बनने में पुरुषार्थ की ही प्रधानता है। कारण के होने पर कर्त्ता के पुरुषार्थ से ही कार्य होता है। प्रत्येक कार्य में कारण और कर्त्ता की आवश्यकता है। इन बर्तनों को बनाने के लिये जो मिट्टी लाई गई वह मिट्टी बर्तनों का—उपादान-कारण है। फिर मिट्टी में राख आदि मिलाई गई, तथा पानी डाल कर रौंदी गई। इस बर्तन बनाने के लिए तैयार मिट्टी को 'बर्तन' नहीं कह सकते, हाँ, पानी राख आदि, बर्तन के निमित्त—कारण अवश्य हैं। फिर मिट्टी को चाक पर रख कर, कर्त्ता द्वारा विशेष प्रकार की क्रिया की गई, तब बर्तन बने। बर्तन बनाने में, चाक भी निमित्त—कारण रहा। इस प्रकार, उपादान-कारण, निमित्त-कारण, तथा कर्त्ता के होने से बर्तन बने हैं और कर्त्ता द्वारा की गई बर्तन बनाने की

क्रिया, पुरुपार्थ से ही हुई है। इसलिये, इन मिट्टी के वर्तनो को बनाने में, पुरुषार्थ की ही प्रधानता है।

सकडालपुत्र ने, भगवान की वात सुनकर भी यही कहा कि भगवान, इन बर्तनो के वनने में पुरुषार्थ की प्रधानता नहीं है, किन्तु होनहार की ही प्रधानता है। ये बर्तन, भवितव्यता से ही बने हैं।

भगवान ने सकडालपुत्र से कहा कि, यदि ये वर्तन होनहार से ही बने हैं–इनके बनने में पुरुषार्थ का अभाव है–तो एक प्रश्न होता है। वह यह कि, यदि कोई आदमी, इन बर्तनो को चुरा जावे, इधर-उधर बिखेर दे, या इनको फोड़ डाले, तो तू उस आदमी के साथ कैसा व्यवहार करेगा ? या तेरी जिस अग्नि-मित्रा स्त्री को जिसे तू बहुत प्यार करता है, उसपर कोई पुरुप बलात्कार करे, तो तू उस पुरुप पर क्रुद्ध तो न होगा ?

भगवान का अन्तिम प्रश्न सुन कर, सकडालपुत्र ने—पति-कर्त्तव्य के आवेश में उत्तर दिया कि, हे भगवान, ऐसे दुष्ट पर मैं अवश्य ही क्रोध करूँ, उसे दण्ड दूँ, लात, घूसे तथा लकड़ी से उस दुराचारी को मारूँ और आवश्यकता समझने पर, उसको जीवन-रहित भी कर डालूँ।

सकडालपुत्र का उत्तर सुन कर, भगवान ने उससे कहा कि सकडालपुत्र, तेरा ऐसा करना तो तेरे सिद्धान्त के विरुद्ध होगा

न ? क्योंकि, तू अभी कह चुका है कि, जो-कुछ होता है, वह होनहार से ही होता है। जब तेरे कथनानुसार सब-कुछ होनहार से ही होता है, तब उस वर्तन चुराने, फोड़ने, फेंकनेवाले या तेरी स्त्री के साथ दुराचार करनेवाले का अपराध ही क्या रहा, जो तू उसे इस प्रकार का दण्ड दे ? उसने जो-कुछ किया है, वह तेरे सिद्धान्तानुसार—होनहार के वश होकर; फिर उसे, तेरे द्वारा दण्ड मिलने का क्या कारण ? यदि तू ऐसे व्यक्ति को दण्ड दे, तब तो तूने होनहारवाद को नहीं माना, किन्तु पुरुषार्थवाद को माना ! यदि तूने उसे दण्ड दिया, तब तो तेरा माना हुआ होनहारवाद झूठा ठहरता है !

भगवान की इस बात ने, सकडालपुत्र का हृदय हिला दिया। वह, विचार में पड़ गया और अन्त में इसी निश्चय पर पहुँचा, कि वास्तव में, होनहार के आश्रित रहकर हम कुछ नहीं कर सकते, लेकिन पुरुषार्थ के द्वारा हम सब-कुछ कर सकते हैं। होनहारवाद से तो, जीवन में आलस्य और अकर्मण्यता आती है।

पुरुषार्थवाद का बोध पाकर, सकडालपुत्र ने भगवान को वन्दना-नमस्कार किया और प्रार्थना की कि मैं आपकी युक्तियों से सहमत होकर, पुरुषार्थवाद को प्रधान एवम् उपादेय तथा होनहारवाद को हेय मानता हूँ। अब मेरी इच्छा, आपका कहा हुआ धर्म सुनने की है, इसलिए कृपा करके मुझे धर्म सुनाइए।

सकडालपुत्र की प्रार्थना पर, भगवान ने उसको धर्म सुनाना प्रारम्भ किया। यद्यपि भगवान के कहे हुए धर्मोपदेश को और लोगों ने भी सुना, लेकिन इस समय सकडालपुत्र ही प्रधान श्रोता था, इसलिए, सकडालपुत्र को सम्बोधन करके भगवान फर्माने लगे—

हे सकडाल पुत्र ! दुर्गति से निकालकर सुगति में पहुँचाने वाला, धर्म ही है। धर्म की सहायता बिना, प्राणी, दुर्गति से नहीं निकल सकता, न सद्गति को ही प्राप्त कर सकता है।

परलोक के लिये हितकारी धर्म के मुख्यतः दो भेद हैं, सूत्र-धर्म और चारित्र्य-धर्म। सूत्रधर्म का आचरण निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर श्रद्धा करना है। धर्म का प्रधान अंग श्रद्धा ही है। जबतक धर्म पर श्रद्धा न हो, तब तक, धर्म सम्बन्धी की गई क्रियाएँ भी पूरी तरह सार्थक नहीं होतीं। इसलिये केवली प्ररूपित धर्म के आचरण में सब से पहिला कार्य है, निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर श्रद्धा करना। धर्म के दूसरे भेद चारित्र धर्म के दो भेद हैं, एक आगार धर्म और दूसरा अनगार धर्म। आगार धर्म वह है जो सांसारिक कार्य करते हुए भी पाला जा सके, और अनगार धर्म वह है, जो सांसारिक कार्यों को त्याग कर पाला जा सके। आगार धर्म का पालन करने वाले सांसारिक कामों को करते हुए धीरे-धीरे मुक्ति की ओर अग्रसर होते हैं और अनगार धर्म का पालन करने वाले, संसार के समस्त कार्य त्याग कर, केवल मोक्ष-प्राप्ति में ही प्रयत्न

में जुटे रहते हैं। मोक्ष की पहिली सीढ़ी, आगार धर्म है। और दूसरी सीढी अनगार धर्म है। जो लोग, धर्म से दूर हैं, उन्हे अपनी शक्ति का विचार करके—यदि वे अपने-आपको, अनगार धर्म पालन करने में असमर्थ समझते हैं, तो उनके लिये—आगार धर्म स्वीकार करना तथा उसका पालन करना ही श्रेयस्कर है।

आगार का अर्थ है 'सीमा'। आगार धर्म पालन करनेवाला अपनी लालसा और अपनी आवश्यकता की, सीमा कर लेता है और उस सीमा के अन्दर रह कर अपना सांसारिक जीवन व्यतीत करता है; तथा त्याग एवम् सन्तोष को बढ़ाता हुआ, अपने-आपको अनगार धर्म पालन करने के योग्य बनाता जाता है। आगार धर्म पालन करने वाला 'श्रमणोपासक' कहलाता है। श्रमणोपासक का अर्थ है, श्रमण अर्थात् साधु या अनगार की उपासना करने वाला। साधु, अनगार धर्म का पालन करने वाला होता है। श्रमणोपासक आगार धर्म का पालन करता हुआ अनगार धर्म प्राप्ति की इच्छा रखता है और अनगार धर्म पालन करनेवाले साधु को श्रेष्ठ तथा आदर्श मान कर, उनकी उपासना करता रहता है। आगार धर्म स्वीकार करने के लिये, बारह व्रतों का धारण करना आवश्यक है। वे बारह व्रत ये हैं—स्थूल अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अस्तेय व्रत, ब्रह्मचर्यव्रत, परिग्रह-परिमाणव्रत, दिशि परिमाणव्रत भोगोपभोग परिमाण व्रत, अनर्थ दण्ड निवर्तन

व्रत, सामायिक व्रत, देशावासिक व्रत, पौषध व्रत, और अतिथि-संविभाग व्रत।

इन बारह व्रतों को, धारण करके निरतिचार पालन करने वाला ही, आगार-धर्म का पूर्णरूपेण—आराधक है। जो प्राणी, आगार धर्म का पालन करता हुआ, अनगार-धर्म को श्रेष्ठ मानता है, तथा श्रमणों की उपासना करता है, वही श्रमणो-पासक है। यद्यपि उत्तम तो अनगार धर्म ही है—अनगार धर्म का पालन करने पर ही, प्राणी संसार के जन्म-मरण से मुक्त हो सकता है—लेकिन, अनगारधर्म के पालन की क्षमता न होने पर, आगारधर्म का पालन करना भी अच्छा है। आगारधर्म पालन करते करते, प्राणी में अनगारधर्म पालने की शक्ति भी आजावेगी और इस प्रकार वह, संसार के जन्म-मरण से छुटकारा पाकर अपना कल्याण कर सकेगा।

भगवान से धर्मोपदेश सुनकर, सकडालपुत्र बहुत आनन्दित हुआ। उसकी इच्छा, आगारधर्म स्वीकार करने की हुई। उसने भगवान से प्रार्थना की कि—हे भगवान, आपने धर्म सुना कर मुझे कृतकृत्य कर दिया। मैं, अनगारधर्म पालने में अपने को सशक्त नहीं देखता, इसलिये मेरी इच्छा है, कि मैं आगारधर्म स्वीकार करूँ। दया करके मुझे वे बारह व्रत धारण करा दीजिये, जिनको—आगार धर्म स्वीकार करने वाले के लिये—धारण करना आवश्यक है।

सकडालपुत्र की नम्र प्रार्थना सुन कर, भगवान ने उसे श्रावक के वारह व्रत धारण कराये, और व्रत के वे अतिचार भी वता दिये, जिनसे वचना—व्रत पालन के लिये—आवश्यक है।

भगवान से व्रत धारण करके, सकडालपुत्र को वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसी निर्धन को धन और रंक को राज्य मिलने से हुआ करती है।

भगवान से व्रत धारण करके और भगवान को वन्दना नमस्कार करके, सकडालपुत्र—पोलासपुर नगर स्थित—अपने घर को आया। घर में, सकडालपुत्र अपनी अग्निमित्रा पत्नी से कहने लगा कि—हे प्रिये, मैंने, श्रमण भगवान महावीर से धर्म सुनकर, आगारधर्म को स्वीकार किया है। मुझे,श्रमण भगवान महावीर का धर्म, हितकर और रुचिकर मालूम हुआ। मैं, तुम्हे भी यही सम्मति देता हूँ कि, तुमभी जाकर श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार और उनकी सेवा भक्ति करो, तथा उनके पास से–श्रावक के वारह व्रत रूप–आगारधर्म स्वीकार करो।

अग्निमित्रा ने, पति की वात वड़े हर्ष से सुनी और स्वीकार की। तव सकडालपुत्र ने, अपने यहाँ रहने वाले एक व्यक्ति को–अग्निमित्रा के लिये–धर्मरथ तैयार करके लाने की आज्ञा दी। स्नानादि से निवृत्त होकर तथा सुन्दर स्वच्छ एवं धर्म सभा में जाने योग्य वस्त्र पहिन कर—अपनी सखियों,सहित—अग्निमित्रा,

धर्मरथ में सवार हुई और भगवान के दर्शन करने को चली।

शास्त्र के उक्त कथन से प्रकट है, कि उस समय के लोग, धर्मसभा मे जाने के लिये—और स्थान पर जाने के लिये पहिने जाने वाले वस्त्रो से—भिन्न प्रकार के वस्त्र पहिनते थे। धर्म सभा में जाने के लिये, अभिमान-प्रदर्शक, स्वभाव मे चंचलता उत्पन्न करने वाले एवं स्वयं के तथा दूसरो के हृदय मे विकार-वृद्धि करने वाले वस्त्रों का उपयोग करना, धर्म का उचित सत्कार नहीं करना है। सम्भवतः इसी भावना को लेकर उस समय के लोग—धर्म सभा में जाने के समय ऐसे वस्त्र पहिनते होंगे, जिनसे उक्त दोष उत्पन्न न हो।

भगवान महावीर की, सेवा मे उपस्थित हो, अग्निमित्रा और उसकी सखियो ने भगवान को वन्दना नमस्कार किया। भगवान महावीर ने, अग्निमित्रा सहित उपस्थित जन-समुदाय को, धर्म सुनाया। भगवान के मुख मे धर्म सुन कर, अग्निमित्रा, बहुत आनन्दित हुई, तथा भगवान को वन्दना नमस्कार करके प्रार्थना करने लगी कि—हे भगवान, मैं निर्ग्रन्थ—प्रवचन को श्रद्धती हूँ और आपने जो कुछ कहा है, उसे सत्य मानती हूँ। मैं, दीक्षा लेकर अनगारधर्म पालने मे तो असमर्थ हूँ, इसलिये-पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतरूप—गृहस्थ—धर्म, अंगीकार करना चाहती हूँ। कृपा करके आप, मुझे श्राविका के बारह व्रत धारण करादीजिये।

अग्निमित्रा की विनम्र प्रार्थना पर, भगवान ने, अग्निमित्रा को श्राविका के बारह व्रत धारण कराये और उनके अतिचार भी बता दिये।

भगवान से बारह व्रत धारण करके अग्निमित्रा, बहुत हर्षित हुई और भगवान को वन्दना नमस्कार करके—रथ पर सवार हो—अपने घर को लौट आई।

सकडालपुत्र, पहले आजीविक मत का अनुयायी था, और अब केवली-प्ररूपित धर्म का उपासक हुआ है। जिस प्रकार उसने, केवली-प्ररूपित धर्म स्वीकार करके, अपनी स्त्री से भी यही धर्म स्वीकार करने के लिए कहा—और अग्निमित्रा ने, भगवान का धर्म स्वीकार भी किया—इसी प्रकार, सकडालपुत्र जब गोशालक-मत का अनुयायी बना था, तब भी उसने, अग्निमित्रा से गोशालक का मत स्वीकार करने के लिए कहा होगा—और अग्निमित्रा ने स्वीकार भी किया होगा। अर्थात्, सकडालपुत्र के साथ ही, अग्निमित्रा भी, आजीविकमत की अनुयायिनी रही होगी। ऐसा होते हुए भी, जब सकडालपुत्र ने गोशालक का मत त्याग कर, भगवान महावीर का धर्म स्वीकार किया, तब अग्निमित्रा ने भी—पति का अनुसरण करते हुए-यही किया। यह नहीं हुआ कि, उसने गोशालक के मत का पक्ष लेकर, पति की बात-या कार्य-का विरोध किया हो; या आप, गोशालक-मत

धर्मरथ में सवार हुई और भगवान के दर्शन करने को चली।

शास्त्र के उक्त कथन से प्रकट है, कि उस समय के लोग, धर्मसभा में जाने के लिये—और स्थान पर जाने के लिये पहिने जाने वाले वस्त्रों से—भिन्न प्रकार के वस्त्र पहिनते थे। धर्म सभा में जाने के लिये, अभिमान-प्रदर्शक, स्वभाव में चंचलता उत्पन्न करने वाले एवं स्वयं के तथा दूसरों के हृदय में विकार-वृद्धि करने वाले वस्त्रों का उपयोग करना, धर्म का उचित सत्कार नही करना है। सम्भवतः इसी भावना को लेकर उस समय के लोग—धर्म सभा में जाने के समय ऐसे वस्त्र पहिनते होंगे, जिनसे उक्त दोष उत्पन्न न हो।

भगवान महावीर की, सेवा में उपस्थित हो, अग्निमित्रा और उसकी सखियों ने भगवान को वन्दना नमस्कार किया। भगवान महावीर ने, अग्निमित्रा सहित उपस्थित जन-समुदाय को, धर्म सुनाया। भगवान के मुख से धर्म सुन कर, अग्निमित्रा, बहुत आनन्दित हुई, तथा भगवान को वन्दना नमस्कार करके प्रार्थना करने लगी कि—हे भगवान, मैं निग्रन्थ—प्रवचन को श्रद्धती हूँ और आपने जो कुछ कहा है, उसे सत्य मानती हूँ। मैं, दीक्षा लेकर अनगारधर्म पालने में तो असमर्थ हूँ, इसलिये-पाँच अनुव्रत और सात शिक्षाव्रतरूप-गृहस्थ-धर्म, अंगीकार करना चाहती हूँ। कृपा करके आप, मुझे श्राविका के बारह व्रत धारण करादीजिये।

अग्निमित्रा की विनम्र प्रार्थना पर, भगवान ने, अग्निमित्रा को श्राविका के बारह व्रत धारण कराये और उनके अतिचार भी बता दिये।

भगवान से बारह व्रत धारण करके अग्निमित्रा, बहुत हर्षित हुई और भगवान को वन्दना नमस्कार करके—रथ पर सवार हो—अपने घर को लौट आई।

सकडालपुत्र, पहले आजीविक मत का अनुयायी था, और अब केवली-प्ररूपित धर्म का उपासक हुआ है। जिस प्रकार उसने, केवली-प्ररूपित धर्म स्वीकार करके, अपनी स्त्री से भी यही धर्म स्वीकार करने के लिए कहा—और अग्निमित्रा ने, भगवान का धर्म स्वीकार भी किया—इसी प्रकार, सकडालपुत्र जब गोशालक-मत का अनुयायी बना था, तब भी उसने, अग्निमित्रा से गोशालक का मत स्वीकार करने के लिए कहा होगा—और अग्निमित्रा ने स्वीकार भी किया होगा। अर्थात्, सकडालपुत्र के साथ ही, अग्निमित्रा भी, आजीविकमत की अनुयायिनी रही होगी। ऐसा होते हुए भी, जब सकडालपुत्र ने गोशालक का मत त्याग कर, भगवान महावीर का धर्म स्वीकार किया, तब अग्निमित्रा ने भी—पति का अनुसरण करते हुए-यही किया। यह नहीं हुआ कि, उसने गोशालक के मत का पक्ष लेकर, पति की बात-या कार्य-का विरोध किया हो; या आप, गोशालक-मत

की ही अनुयायिनी रही हो। जिस समय ऐसा था, उस समय; दाम्पत्य-जीवन भी कलहपूर्वक नहीं, किन्तु सुख पूर्वक बीतता था। आज तो यह हो रहा है, कि पति जिस धर्म का अनुयायी है, पत्नी उसके विरोधीधर्म की अनुयायिनी है, और पत्नी जिस धर्म की अनुयायिनी है, पति उसके विरोधी धर्म का अनुयायी है। पत्नी, पति के गुरु को कुगुरु, पति के धर्म को मिथ्या-धर्म और पति के धर्म-कार्य को पाप मानती है, तथा पति, पत्नी के गुरु को कुगुरु, पत्नी के धर्म को मिथ्या धर्म एवम् पत्नी के धर्म-कार्य को पाप मानता है। वह उसके धर्म तथा गुरु की निन्दा करता है, और वह उसके धर्म तथा गुरु की निन्दा करती है। न पति ही, अपना माना हुआ धर्म, पत्नी को समझा सकता है; न पत्नी ही, अपना माना हुआ धर्म, पति को समझा सकती है। इस प्रकार, धर्म भी दाम्पत्य-कलह का कारण बन रहा है। एक ही घर के लोग, और विशेषतः दम्पति, जब 'परस्पर विरोधी धर्म के अनुयायी हों, तब जीवन, सुखपूर्वक बीते तो कैसे और पत्नी, पति की धर्मसहायिका, तथा पति, पत्नी का धर्म-सहायक कैसे माना जावे? ऐसी दशा में, यह भी कैसे कहा जा सकता है, कि इनमें परस्पर विश्वास है। हाँ, यह दशा, पारस्परिक अविश्वास की द्योतक अवश्य है। पूर्व की जितनी भी कथाएँ हैं, उनमे यह प्रमाण कहीं ही कहीं मिलता है कि पति-पत्नी जीवन भर

भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी धर्म के अनुयायी रहे हों। बल्कि यह प्रमाण विशेषरूप से मिलता है, कि या तो पति के स्वीकार किये हुए धर्म को, पत्नी ने भी स्वीकार किया—जैसे कि सकडाल-पुत्र आनन्द आदि की पत्नियों ने—या पत्नी के स्वीकार किये हुए धर्म को, पति ने भी स्वीकार किया—जैसे कि चेलना रानी के स्वीकार किये हुए केवलीप्ररूपित-धर्म को, राजा श्रेणिक ने भी अपनाया था।

इस कथन का यह अर्थ नहीं है, कि सहयोग की दृष्टि से, पति या पत्नी, किसी असत्य धर्म के उपासक बन जावें। किन्तु यह अर्थ है कि परस्पर निर्णय करके जो सत्यधर्म हो, उसे स्वीकार करना उचित है। घर में एक व्यक्ति सत्यधर्म का उपासक हो और दूसरा असत्यधर्म का अनुयायी हो, तो शान्तिभंग होना स्वाभाविक है। इसलिये सत्यधर्म को पहिचानकर उसीका उपासक होना श्रेयस्कर है।

भगवान महावीर से, आगारधर्म स्वीकार करके सकडाल-पुत्र, श्रमणोपासक हुआ। उसने—जीव, अजीव, आदि—सब तत्त्वों को समझा और आगारधर्म का पालन करता हुआ, अपना जीवन सुखपूर्वक बिताने लगा। कुछ समय तक, पौलासपुर नगर में विराजकर, भगवान महावीर भी अन्यत्र जनपददेश में विहार कर गए।

की ही अनुयायिनी रही हो। जिस समय ऐसा था, उस समय; दाम्पत्य-जीवन भी कलहपूर्वक नहीं, किन्तु सुख पूर्वक बीतता था। आज तो यह हो रहा है, कि पति जिस धर्म का अनुयायी है, पत्नी उसके विरोधीधर्म की अनुयायिनी है, और पत्नी जिस धर्म की अनुयायिनी है, पति उसके विरोधी धर्म का अनुयायी है। पत्नी, पति के गुरु को कुगुरु, पति के धर्म को मिथ्या-धर्म और पति के धर्म-कार्य को पाप मानती है, तथा पति, पत्नी के गुरु को कुगुरु, पत्नी के धर्म को मिथ्या धर्म एवम् पत्नी के धर्म-कार्य को पाप मानता है। वह उसके धर्म तथा गुरु की निन्दा करता है, और वह उसके धर्म तथा गुरु की निन्दा करती है। न पति ही, अपना माना हुआ धर्म, पत्नी को समझा सकता है; न पत्नी ही, अपना माना हुआ धर्म, पति को समझा सकती है। इस प्रकार, धर्म भी दाम्पत्य-कलह का कारण बन रहा है। एक ही घर के लोग, और विशेषतः दम्पति, जब 'परस्पर विरोधी धर्म के अनुयायी हों, तब जीवन, सुखपूर्वक बीते तो कैसे और पत्नी, पति की धर्मसहायिका, तथा पति, पत्नी का धर्म-सहायक कैसे माना जावे? ऐसी दशा में, यह भी कैसे कहा जा सकता है, कि इनमें परस्पर विश्वास है। हाँ, यह दशा, पारम्परिक अविश्वास की द्योतक अवश्य है। पूर्व की जितनी भी कथाएँ हैं, उनमें यह प्रमाण कहीं ही कहीं मिलता है कि पति-पत्नी जीवन भर

भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी धर्म के अनुयायी रहे हों। बल्कि यह प्रमाण विशेषरूप से मिलता है, कि या तो पति के स्वीकार किये हुए धर्म को, पत्नी ने भी स्वीकार किया—जैसे कि सकडाल-पुत्र आनन्द आदि की पत्नियों ने—या पत्नी के स्वीकार किये हुए धर्म को, पति ने भी स्वीकार किया—जैसे कि चेलना रानी के स्वीकार किये हुए केवलीप्ररूपित-धर्म को, राजा श्रेणिक ने भी अपनाया था।

इस कथन का यह अर्थ नहीं है, कि सहयोग की दृष्टि से, पति या पत्नी, किसी असत्य धर्म के उपासक बन जावें। किन्तु यह अर्थ है कि परस्पर निर्णय करके जो सत्यधर्म हो, उसे स्वीकार करना उचित है। घर में एक व्यक्ति सत्यधर्म का उपासक हो और दूसरा असत्यधर्म का अनुयायी हो, तो शान्तिभंग होना स्वाभाविक है। इसलिये सत्यधर्म को पहिचानकर उसीका उपासक होना श्रेयस्कर है।

भगवान महावीर से, आगारधर्म स्वीकार करके सकडाल-पुत्र, श्रमणोपासक हुआ। उसने—जीव, अजीव, आदि—सब तत्त्वों को समझा और आगारधर्म का पालन करता हुआ, अपना जीवन सुखपूर्वक बिताने लगा। कुछ समय तक, पौलासपुर नगर में विराजकर, भगवान महावीर भी अन्यत्र जनपददेश में विहार कर गए।

उधर, गौशालक ने सुना कि, मेरे अनुयायी सकडालपुत्र ने होनहारवाद तथा आजीविक मत की श्रद्धा त्यागकर—भगवान महावीर के पुरुषार्थवाद को मान लिया है, और श्रमणोपासक बन गया है। गौशालक ने, यह सुनकर विचार किया कि, मैं पौलासपुर जाकर सकडालपुत्र से श्रमण निग्रन्थ का धर्म त्याग कराऊँ और उसे, फिर आजीविक मतानुयायी बनाऊँ। इस प्रकार निश्चय करके, गौशालक, अपने संघ सहित, पौलासपुर आया, तथा आजीविक पन्थियों की सभा में अपने भण्डोपकरण रखकर, कुछ अनुयायियों को साथ ले, वह सकडालपुत्र के यहाँ गया।

मिथ्या-मत के प्रचारक लोग, अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिये, प्रत्येक उपाय का अवलम्बन लिया करते हैं। उन्हें धर्म-अधर्म की उतनी अपेक्षा नहीं होती, जितनी अपेक्षा अपने अनुयायी बढ़ाने की होती है। इसके लिये, वे कभी नम्र-से भी नम्र बन जाते हैं, कभी मूर्त्तिमान क्रोध बन जाते हैं, और कभी सहृदय, गुणग्राहक तथा विरोधी की प्रशंसा करनेवाले भी बन जाते हैं।

गौशालक को अपने यहाँ आते देखकर, सकडालपुत्र समझ गया, कि ये मेरे पूर्व-गुरु, अपना सिद्धान्त मुझसे मनवाने के लिये ही आ रहे हैं। उसने विचारा, कि मैं इस बात को भली-

भांति समझ चुका हूँ, कि गोशालक का सिद्धान्त–मेरे ही लिये नहीं, किन्तु सारे संसार के लिये अहितकर है। ऐसी दशा में, इनका सत्कार करना, इन्हे अपना सिद्धान्त माने जाने की आशा दिलाना है। किसी आशावाले को, निराश करने की अपेक्षा, आशा न होने देना ही अच्छा है। यदि, ये अतिथि या अभ्यागत के रूप में आये होते, तब तो इनका आदर-सत्कार करना मेरा नैतिक-कर्त्तव्य था, लेकिन ये अपने मिथ्यामत का प्रचार करने आये हैं, ऐसी दशा में इनको सम्मान देना, इनके मत को सम्मान देना है। ऐसे दिये हुए सम्मान का, और लोगो पर बुरा असर पड़ेगा। इसके साथ ही, तिरस्कार करना भी अच्छा नहीं है, इसलिये मुझे मौन धारण कर लेना ही ठीक है।

गोशालक, सकडालपुत्र के यहाँ आया, लेकिन, उक्त विचार से,सकडालपुत्र, गोशालक को देखकर न तो किसी प्रकार प्रभावित ही हुआ, न पहले की भाँति उसने, गोशालक का सत्कार ही किया। वह उसी प्रकार मौनस्थ रहा, जिस प्रकार कि गोशालक के आने से पहले था। सकडालपुत्र के इस व्यवहार से, गोशालक को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। सकडालपुत्र की मुखमुद्रा पर से, गोशालक समझ गया कि, भगवान महावीर के उपदेश का इस पर बहुत प्रभाव पड़ चुका है, इसीसे अब यह मुझे, तथा मेरे सिद्धान्त को आदर की दृष्टि से नहीं देखता है। यदि ऐसा न

होता, तो यह मुझे देखकर भी, मौन तथा स्थिर भाव से न बैठा रहता।

गौशालक विचारने लगा, कि मैं सकडालपुत्र की प्रार्थना पर नहीं, किन्तु स्वेच्छा से इसके यहाँ आया हूँ। अब यदि मैं यहाँ से लौटा जाता हूँ—तो यह तो मेरे अनुशासन से निकल ही गया है, लेकिन, मेरे अन्य अनुयायियों पर भी, बुरा प्रभाव पड़ेगा। यद्यपि, मैं जिस उद्देश्य से इसके यहाँ आया हूँ, उसमें सफलता मिलने की आशा तो नहीं दिखती, लेकिन, कम से कम आज तो जिस तरह बने उस तरह इससे स्थान, पाट आदि प्राप्त करने चाहिएँ, जिसमें दूसरे लोगों के हृदय में मेरे, या मेरे मत के प्रति अश्रद्धा न हो। यह, मेरा एक प्रसिद्ध अनुयायी था। यदि, मैं इसके यहाँ से इसी समय चला जाऊँगा, तो लोगों में यह बात फैल जावेगी, कि सकडालपुत्र अब गौशालक का उपासक नहीं रहा। इस बात का, मेरे उपासकों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, इसलिये, जैसे हो वैसे इससे स्थान, पाट आदि लेकर इसीके यहाँ ठहरना चाहिए। ऐसा होने पर, और लोग कम से कम यह तो समझेंगे ही, कि सकडालपुत्र, भगवान महावीर और गौशालक को समान रूप से मानता है। इसके सिवा, यदि मैं सकडालपुत्र के यहाँ रहूँगा, तो सम्भव है कि कभी इसके विचारों को अपने सिद्धान्त के अनुकूल भी कर सकूँ।

संभवतः इस प्रकार विचार कर, ही गौशालक ने, भगवान महावीर की प्रशंसा द्वारा, सकडालपुत्र से सम्मान प्राप्त करने का निश्चय किया। वह, सकडालपुत्र से कहने लगा कि, हे देवानुप्रिय, क्या यहाँ महा-महान् आये थे?

गौशालक का प्रश्न सुन कर, सकडालपुत्र ने विचारा, कि यद्यपि, अब मैं गौशालक या इसके सिद्धान्त को-पूर्व की भाँति-आदर की दृष्टि से नहीं देखता, न मेरी इच्छा इससे वात करने की ही है, लेकिन यह तो जानूँ, कि गौशालक, महा-महान् कहता किसे है?

इस प्रकार विचार कर, सकडालपुत्र ने, गौशालक से पूछा-कि—देवानुप्रिय, महा-महान् कौन? अर्थात्, आप महा-महान् किसे कहते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में, गौशालक ने कहा कि—मैं, श्रमण भगवान महावीर को महा-महान् कह रहा हूँ।

'श्रमण' का अर्थ है, साधु। जो व्यक्ति, संसार के समस्त पदार्थों से ममत्व त्याग कर, अपने आत्मा को कल्याण-मार्ग में लगाये हुए है, और मोक्ष-प्राप्ति ही जिसका ध्येय है, उसे, श्रमण, साधु, या अनगार कहते हैं। 'भगवान' का अर्थ मालिक, स्वामी, या प्रभु है। जो, ज्ञान का स्वामी है, अपने आत्मा पर जिसका पूर्ण आधिपत्य है, उसे भगवान कहते हैं। 'महावीर' का अर्थ है, वीरों का भी वीर। साधारण वीरों से न जीते गये—काम क्रोधा-

दि—पर, जिसने विजय प्राप्त करली है—उन्हें नष्ट कर दिया है-उसे, महावीर कहते हैं। श्रमण भगवान और महावीर, ये तीनो ही विशेषण हैं। इन विशेषणों द्वारा ही, गौशालक ने, चौवीसवें तीर्थङ्कर—सिद्धार्थपुत्र—का परिचय दिया है, तथा वे, इन विशेषणों से ही प्रसिद्ध भी थे।

गौशालक के उत्तर देने पर भी, सकडालपुत्र, चुप रहा। तब गौशालक ने, सकडालपुत्र से फिर पूछा कि—हे देवानुप्रिय, क्या यहाँ महागोप आये थे ?

गौओं की रक्षा करते हुए, उन्हे उनके स्थान पर पहुँचा देने वाले को 'गोप' कहते हैं। गोप की तरह, जो संसार के सभी प्राणियों को—सुरक्षित रूप से—जीव के वास्तविक स्थान-मोक्ष-में पहुँचाने का उपाय करता है, उसे 'महागोप' कहते हैं।

गौशालक के इस दूसरे प्रश्न को सुन कर भी, सकडालपुत्र ने यही पूछा कि—हे देवानुप्रिय, आप, महागोप किसे कह रहे हैं ? गौशालक ने उत्तर दिया कि—मैं, श्रमण भगवान महावीर को, महागोप कह रहा हूँ। सकडालपुत्र ने प्रश्न किया कि—आप किस अर्थ से उन्हें महागोप कह रहे हैं ? इसके उत्तर में, गौशालक कहने लगा कि—जिस प्रकार, गौओं को वन में भटकती रहने देने पर, उनके विनाश का भय रहता है, चोरों द्वारा चुराए जाने का डर रहता है; इसलिये, गोप लोग उन्हें दण्ड से घेर कर

बाड़े में ले आते हैं और इस प्रकार उन गौओं को, हिंसक जीव, चोर, इत्यादि की ओर से सुरक्षित कर देते हैं, उसी प्रकार, इस संसार रूपी वन में भटकते हुए प्राणियों को, भगवान महावीर, धर्म-रूपी डण्डे से निर्वाण-रूपी बाड़े में पहुँचाकर, जन्म-मरण के भय से मुक्त कर देते हैं। इसी कारण, मैंने उन्हें महागोप कहा है।

गौशालक से, महागोप की व्याख्या सुनकर भी, सकडालपुत्र चुप रहा। तब गौशालक ने फिर पूछा कि—हे देवानुप्रिय, क्या यहाँ महा-सार्थवाही आये थे? गौशालक के इस प्रश्न को सुन-कर, सकडालपुत्र ने, पूर्व की भाँति गौशालक से पूछा कि—देवानु-प्रिय, महासार्थवाही कौन? गौशालक ने उत्तर दिया कि—श्रमण भगवान् महावीर, महासार्थवाही हैं। सकडालपुत्र ने फिर पूछा कि—श्रमण भगवान महावीर, महासार्थवाही किस अर्थ से हैं?

सकडालपुत्र के प्रश्न के उत्तर में, गौशालक कहने लगा कि—जंगल के भयानक तथा संकट पूर्ण पथ में साथ रह कर जो सुरक्षित रूप से नगर में पहुँचा देता है, उसे, सार्थवाही कहते हैं। श्रमण भगवान महावीर, इस संसार रूपी भयानक वन में प्राणियों को धर्म रूपी सरल मार्ग बताते हैं, और इस वन से निकाल कर, निर्वाण रूपी नगर में पहुँचा देते हैं; इसलिये वे महासार्थ-वाही हैं।

महा सार्थवाही की व्याख्या सुन कर भी, सकडालपुत्र, गौशालक से कुछ न बोला। तब गौशालक ने, सकडालपुत्र से फिर पूछा कि—हे देवानुप्रिय, क्या यहाँ महाधर्म-कथी आये थे ? सकडालपुत्र ने, गौशालक से फिर यही प्रश्न किया कि आप, महाधर्मकथी किसे कहते हैं ? गौशालक ने उत्तर दिया कि—मैं, श्रमण भगवान महावीर को महाधर्मकथी कहता हूँ। सकडालपुत्र ने पूछा कि—आप, उन्हें महाधर्मकथी किस अर्थ से कहते हैं ? गौशालक, उत्तर में कहने लगा कि—इस संसार में, बहुत से जीव चक्कर खाते फिरते हैं और नाना प्रकार के कष्ट उठा रहे हैं। भगवान महावीर, मोक्ष प्राप्ति के लिये, उन जीवों को—धर्म सुना कर सत्पथ पर लगा रहे हैं, इसलिये मैंने उन्हें महाधर्मकथी कहा है।

गौशालक से, महाधर्म कथी की व्याख्या सुन कर भी, सकडालपुत्र चुप ही रहा। तब गौशालक ने फिर प्रश्न किया कि—हे देवानुप्रिय, क्या यहाँ महानाविक आये थे ? सकडाल-पुत्र ने पूछा कि आप, महानाविक किसे कह रहे हैं ? गौशालक ने उत्तर दिया कि—मैं, श्रमण भगवान महावीर को महानाविक कह रहा हूँ। सकडालपुत्र ने पूछा कि—आप, किस अर्थ से उन्हें महानाविक कह रहे हैं ? गौशालक ने कहा कि—इस संसार रूपी समुद्र में बहुत से जीव त्रास पाते हैं, डूब रहे हैं और जन्म-

मरण रूपी जल की लहरों से टकरा रहे हैं। भगवान महावीर, ऐसे जीवों को, धर्म रूपी नाव में बैठा कर संसार-समुद्र से पार कर देते हैं और मोक्ष रूपी नगर में पहुँचा देते हैं—जहाँ वे जीव, दुःख रहित हो जाते हैं। भगवान महावीर, इस धर्म रूपी नाव के नाविक हैं। नाविक तो, साधारण समुद्र में ही नाव चलाता है, लेकिन भगवान महावीर की धर्मरूपी नाव, संसार रूपी महासमुद्र में चलती है और जल में चलने वाली नाव के डूबने का जैसा भय रहता है, वैसे भय से, भगवान महावीर की यह—धर्मरूपी—नाव मुक्त है। इसी कारण भगवान महावीर को, मैंने महानाविक कहा है।

गोशालक ने, सकडालपुत्र से कई वार प्रश्न किये, लेकिन सकडालपुत्र ने, उसकी इच्छानुसार उत्तर नहीं दिया। सकडालपुत्र ने, गोशालक को इसलिये उत्तर नहीं दिया, कि एक तो सकडालपुत्र यह जानना चाहता था, कि भगवान महावीर के विषय में, गोशालक कैसे उद्‌गार निकालता है। दूसरे, भगवान महावीर के विरोधी गोशालक के मुख से, भगवान महावीर की प्रशंसा सुनने में, सकडालपुत्र को आनन्द आता था। वह विचारता था, कि यदि मैं, गोशालक को उसके प्रश्न का उत्तर शीघ्र ही दे दूँगा, तो फिर वह, भगवान महावीर की प्रशंसा न करेगा। इसके सिवा, मैं यह भी न जान सकूँगा कि मुझसे उत्तर न पाने

पर गौशालक, भगवान महावीर के लिये कैसे उद्गार निकालता है। संभवतः इस प्रकार सोच कर ही, सकडालपुत्र ने, गौशालक से उसके द्वारा कहे हुए, भगवान महावीर के विशेपणो का अर्थ जानने के सिवा—और कुछ नहीं कहा। लेकिन जब गौशालक ने, सकडालपुत्र से पाँच बार प्रश्न किये और पाँचो ही बार भगवान महावीर की प्रशंसा की, तब सकडालपुत्र ने विचारा कि अब गौशालक से बातचीत नहीं करना, अनुचित होगा। अब तो इससे, कुछ बातचीत करनी ही चाहिए।

इस प्रकार सोच कर और गौशालक से महानाविक का अर्थ जान कर, सकडालपुत्र ने गौशालक से कहा कि—हे देवानुप्रिय, लोक में आप, बड़े विचक्षण बुद्धिमान माने जाते हैं, आप इस तरह नयवादी, एवं कुशल-वक्ता हैं, अपनी बात सिद्ध करने में, आपको देर भी नहीं लगती है और बात के तत्त्व को भी, आप शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं। आप में, ये सब गुण दिखाई देते हैं, भगवान महावीर के गुणों से भी आप भिज्ञ हैं और उनकी प्रशंसा भी करते हैं, लेकिन यह समझ में नहीं आता कि ऐसा होते हुए भी—आप मे और भगवान महावीर मे, मत-भेद क्यों है ? यदि, भगवान महावीर की कोई बात, आपको अयथार्थ मालूम होती है, तो आप उनसे वाद विवाद करके, वास्तविकता का निर्णय क्यों नहीं कर लेते हैं ?

सकडालपुत्र की बात के उत्तर में, गौशालक ने कहा कि-हे देवानुप्रिय, मैं भगवान महावीर से वादविवाद करने में असमर्थ हूँ। जिस प्रकार, एक हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले बलशाली मेधावी और व्यायाम किये हुए युवक के हाथ से, भेड़, बकरी, तीतर, बटेर प्रभृति छोटे छोटे पशु पक्षी, अपनी शक्ति के बल पर नहीं छूट सकते, उसी प्रकार मैं, भगवान महावीर से वादविवाद में नहीं जीत सकता। भगवान महावीर से वादविवाद करने का मेरा साहस करना वैसा ही होगा, जैसा कि, सिंह से लड़ने के लिये, बकरी का साहस करना होता है।

गौशालक ने भगवान महावीर की जो प्रशंसा की थी, वह हार्दिक नहीं थी, किन्तु अपना उद्देश्य सफल करने के लिये थी। इसलिये गौशालक का यह कार्य न तो समदृष्टिपने का ही था, न भगवान की आज्ञा में ही था। जो लोग, अज्ञानी के दान मानादि भी-समदृष्टि के दान, मान, सम्मान की तरह भगवान की आज्ञा में कहते हैं, उन्हें, गौशालक के इस कार्य पर से विचार करना चाहिए, कि गौशालक ने, भगवान की इतनी प्रशंसा की, इस प्रकार गुणगान किया, फिर भी वह, भगवान का निन्दक क्यों कहलाया? वास्तव में बात यह है, कि अज्ञानी का दान, मान, सम्मान, हार्दिक नहीं होता, किन्तु बनावटी, केवल लोगों को दिखाने या सांसारिक कार्य सिद्ध करने के

लिये होता है, और समदृष्टि का दान, मान, सम्मान, बनावटी, लोगों को दिखाने, या सांसारिक कामना के लिये नहीं होता; किन्तु हार्दिक, तथा मोक्ष के हेतु होता है। इसलिये समदृष्टि के दान, मान, सम्मान की तरह अज्ञानी के दान, मान, सम्मान, भगवान की आज्ञा में नहीं हैं।

गौशालक की बात सुन कर, सकडाल पुत्र ने विचारा, कि गौशालक ने, मेरे गुरू भगवान महावीर की इतनी प्रशंसा की है, और उनसे वादविवाद करने में उन्हे सिंह, तथा अपने आप-को बकरी के समान मान रहा है, ऐसी दशा में कम से कम इसे ठहरने के लिये स्थानादि तो देना ही चाहिए। इस प्रकार सोच कर, सकडालपुत्र ने गौशालक से कहा कि हे देवानुप्रिय, आपने मेरे धर्माचार्य भगवान महावीर का, उचित और वास्तविक गुणानुवाद किया है; इसलिये मैं, आपको मेरी दूकान में ठहरने एवं पाट,शय्या, संथारा आदि लेने के लिये आमन्त्रित करता हूँ। आपको, जो चाहिए सो लीजिये।

गौशालक ने, भगवान महावीर की जो प्रशंसा की थी, वह इसी उद्देश्य से, कि मुझे सकडालपुत्र, अपने यहाँ ठहरने को स्थानादि दे। अपने उद्देश्य में सफलता मिलने से, गौशालक प्रसन्न हुआ और वह, सकडाल पुत्र की दूकान में शय्या, संथारा आदि लेकर ठहर गया। वहाँ ठहर कर गौशालक, सकडाल-

पुत्र को फिर अपना अनुयायी बनाने की चेष्टा करने लगा। उसने, सकडालपुत्र को, तर्क युक्ति सहित बहुत उपदेश दिया, लेकिन वह, सकडालपुत्र की अकाट्य युक्तियों के आगे, अपने उद्देश्य में असफल रहा। सकडालपुत्र को अपना अनुयायी बनाने की ओर से, गोशालक जब निराश हो चुका, तब वहाँ से विहार कर गया।

सकडालपुत्रश्रावक, भगवान महावीर से स्वीकार किये हुए व्रतों का, सावधानीपूर्वक पालन करने लगा। व्रतों में, अनाचार होने देना तो दूर रहा, अतिचार न होने देने का भी वह बहुत ध्यान रखता था। उसने, चौदह वर्ष तक, भगवान महावीर से स्वीकार किये हुए व्रतो का—घर में रह कर—भली प्रकार पालन किया।

श्रावक-धर्म पालन करते, जब चौदह वर्ष व्यतीत हो चुके और पन्द्रहवाँ वर्ष जा रहा था, तब—आधीरात के समय—सकडालपुत्र ने अपने मन में विचार किया कि मुझ पर, घर-गृहस्थी का बहुत भार है और कौटुम्बिक-प्रपंच के कारण, मैं इस आगारधर्म का भी पालन समुचित-रीति से नहीं कर पाता। मुझे, अपनी सारी आयु, घर के कामों में ही व्यतीत न करनी चाहिए, किन्तु—अन्त समय में काम आनेवाले—धर्म से, आत्मा को कुछ बलवान बना लेना चाहिए। जिस प्रकार, मैंने सांसारिक-

वैभव संचय किया है, उसी प्रकार, मुझे धर्मरूपी धन भी संचय करना चाहिए। यह सांसारिक धन-वैभव तो यही रह जावेगा, साथ न जावेगा। साथ तो केवल धर्म ही जावेगा। इसलिये मुझे उचित है, कि मैं, सब के सन्मुख, घर-गृहस्थी का भार अपने बड़े लड़के को सौंप—पौषधशाला में रहते हुए—आत्मा को, निरन्तर धर्म-चिन्तन में लगा दूँ। अब मेरे लिये, ऐसा ही करना श्रेयस्कर है, सांसारिक-झगड़ो में ही फँसे रह कर मरना, ठीक नहीं है।

इस प्रकार निश्चय करके, सकडालपुत्रश्रावक ने, अपने कुटुम्ब-परिवार के लोगों को, अपने यहाँ आमन्त्रित किया। आमन्त्रित लोगो को भोजन करा कर, सब के सन्मुख, सकडाल-पुत्र ने गृहस्थी का समस्त भार, अपने बड़े लड़के को सौंप दिया और आप, इस भार से मुक्त हो गया।

पहले के लोग, अपनी सन्तान के लिये जिस प्रकार, यश, वैभव और कीर्त्ति सम्पादन करने का आदर्श रखते थे, उसी प्रकार, इनके त्याग का भी आदर्श रखते थे। यह नहीं होता था, कि जिस प्रकार मकड़ी, जाला बनाकर फिर उसी में फँस मरती है, उसी प्रकार, सांसारिक सम्पत्ति एकत्रित करके, उसीमें फँस मरें। वे, अपनी सन्तान को, नीतिपूर्वक सम्पत्ति-उपार्जन भी सिखाते थे और इसके साथ ही, उसका त्याग भी सिखाते थे।

किसी बात का प्रभाव, कहने मात्र से ही नहीं पड़ा करता, किन्तु, आदर्श रखने से भी पड़ता है। बल्कि, कहने की अपेक्षा, करके बता देने का प्रभाव अधिक पड़ता है। इसके अनुसार, पूर्वकालीन श्रावक—पैतृक, तथा स्वयं की उपार्जित—सम्पदा को, धर्म-सेवा के लिए त्यागकर, अपनी सन्तान के सन्मुख, क्रियात्मक-आदर्श रखते थे। 'जैसा पिता, वैसा पुत्र' इस कहावत के अनुसार, ऐसे त्यागियों की सन्तान भी, त्यागिनी होती थी, और वह भी, धर्म के लिये, बड़ी से बड़ी सम्पत्ति को त्यागने में, नहीं हिचकिचाती थी। आज, इससे विपरीत यह हो रहा है, कि घर सम्पत्ति को, सदा के लिये छोड़ना तो दूर रहा, बहुत से लोगों को, नियमित धर्मध्यान के लिये भी समय नहीं मिलता—इतनी देर के लिये भी, सांसारिक झंझटों, से अपने आपको मुक्त नहीं कर सकते—या यों कहो, कि दो घड़ी के लिये भी, वे, संसार के काम नहीं छोड़ सकते। ऐसे लोगों की सन्तान के हृदय में, धर्म या त्याग के प्रति प्रेम उत्पन्न हो तो कैसे? हाँ, अपने पिता के आदर्श को सामने रखकर, सन्तान, धर्म-प्रेम का ही त्याग चाहे कर डाले, लेकिन संसार-त्याग का तो, उसके सामने आदर्श ही नहीं रखा गया है, इसलिये, संसार-त्याग कैसे कर सकती है? पूर्वसमय के लोगों की भावना, यह रहती थी, कि हमारी सन्तान, हमसे भी अधिक धर्मसेवी और सांसारिक मोह त्याग करनेवाली

हो। इसके लिए वे स्वयं, सांसारिक सम्पत्ति त्यागकर, धर्म-सेवा का आदर्श-अपनी सन्तान के सामने रखते थे। ऐसा करके वे लोग, अपना भी कल्याण कर लेते थे, और अपनी सन्तान को भी, कल्याण का मार्ग बता जाते थे।

सकडालपुत्रश्रावक ने, गृहकार्य का भार, अपने बड़े लड़के को सौंप दिया और आप—इस ओर से स्वतन्त्र हो—श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार कर, पौषधशाला में रहने लगा। धर्म-पालन करते हुए, सकडालपुत्र को भगवान महावीर का धर्म छोड़ने के लिये, देवता द्वारा बताये गये अनेक भय का भी सामना करना पड़ा, लेकिन सकडालपुत्र, न तो भयभीत ही हुआ, न धर्म से विचलित ही हुआ। सकडालपुत्र को धर्म में इस प्रकार दृढ़ देख कर, अन्त में देवता को भी भाग जाना पड़ा।

सकडालपुत्रश्रावक, बहुत दिनों तक तन-मन से धर्म की आराधना करता रहा। अन्त में, उसने सन्थारा कर लिया—अर्थात्, समस्त खाद्य पदार्थों को त्याग कर, धर्म के लिये शरीर-उत्सर्ग कर दिया। इस अवस्था में वह तीस दिन तक जीवित रहा और फिर, शरीर छोड़ कर, प्रथम देवलोक के अरुणभूत विमान में, देवतन धारण किया।

सकडालपुत्रश्रावक की उक्त कथा सुनाकर गणधर भगवान श्रीसुधर्मा स्वामी ने श्रीजम्बूस्वामी से कहा कि—हे जम्बू,

भगवान महावीर के कथनानुसार, सकडालपुत्रश्रावक ने अरुणाभूत विमान में चार पल्योपम का आयुष्य पाया है। इस देव-गति के आयुष्य को क्षय करके, वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और वहाँ, संयम को स्वीकार कर, सिद्ध, बुद्ध, तथा मुक्त हो, सब दुःखों का अन्त करेगा।

# उपसंहार ।

यह कथा एक ऐसे श्रावक की है, जो पहले, सर्वज्ञ प्ररुपित धर्म के विरोधी मत का अनुयायी था और फिर केवली-प्ररुपित धर्म का अनुयायी हुआ। विशेषतः यह कथा, धर्म को समझ कर पालन करने और 'धर्म' नामधारी 'अधर्म' को त्यागने के आदर्श पर स्थित है। कथा में बताया गया है कि किसी असत्य मत के अनुयायी होने पर, और यह समझ जाने पर कि यह मत असत्य है, उस असत्य मत को किस प्रकार त्याग देना चाहिए तथा सत्य-धर्म किस प्रकार स्वीकार करना चाहिए। सत्य-धर्म को स्वीकार करने के पश्चात्, उसपर किस प्रकार श्रद्धा-विश्वास रखना, एवं उसका पालन करना चाहिए, यह भी इस कथा में दर्शाया गया है।

इस कथा में, हिंसा-अहिंसा की गर्भित व्याख्या भी है। अर्थात् यह भी बतलाया गया है कि सूक्ष्म और स्थूल हिंसा में कैसा अन्तर है, तथा सूक्ष्म हिंसा की अपेक्षा आन्तरिक शुद्ध परिणामों की किस प्रकार विशेषता है। सकडालपुत्र कुम्भकार था, इसलिये बाह्यदृष्टि से तो अपनी आजीविका के लिये पृथ्वी, पानी, अग्नि

आदि का आरम्भ करता था, लेकिन उसके आन्तरिक परिणाम शुद्ध थे—बुरे न थे। इन शुद्ध परिणामों को दृष्टि में रखकर ही देवता, सकडालपुत्र के यहाँ आया था। देवता के इस आगमन से सिद्ध है, कि शास्त्रकारों ने द्रव्य-हिंसा की अपेक्षा भाव-हिंसा को अधिक घातक—बुरा—माना है।

धर्मोपदेशक के लिये भी इस कथा में यह बताया गया है, कि किसी झूठे मत में फँसे हुए व्यक्ति को उस झूठे मत से निकालने के लिये युक्ति प्रमाण आदि से किस प्रकार काम लेना चाहिए, और उसे सत्य धर्म स्वीकार कराने के लिये, किस प्रकार चेष्टा करनी चाहिए। स्वयं भगवान महावीर ने भी, सकडालपुत्र के हृदय से असत्य मत निकाल कर, सत्य धर्म की स्थापना करने के लिये, किन उपायों का अवलम्बन लिया है, यह बात धर्मोपदेशक को दृष्टि में रखने योग्य है।

इस कथा में एक विशेषता और है। वह यह कि धर्म-पालन में जाति-पाँति बाधक नहीं हो सकती। चाहे कोई किसी भी जाति का हो, धर्म में उसे सबके समान ही अधिकार प्राप्त है। धर्मोपदेशक या धर्माचार्य को यह बात विशेष रूप से लक्ष्य मे रखनी चाहिए, कि कोई व्यक्ति जाति पाँति में हल्का होने के कारण धर्म से वंचित न रहने पावे। भगवान महावीर का धर्म, विशेषतः पीड़ितजनों के लिये ही है। भगवान ने अपने धर्म

में, तिरस्कृत जीवों को पहले स्थान दिया है। इसलिये, पीड़ित और तिरस्कृत लोगों को धर्मोपदेश सुना कर शान्ति पहुँचानी चाहिए और उन्हें धर्म का सेवक बनाना चाहिए।

सकडालपुत्रश्रावक की तरह, जो लोग केवली प्ररुपित धर्म को समझकर असत्यमत-त्याग सत्यधर्म का पालन करेंगे, उनका परम्परा पर सकडालपुत्र की तरह कल्याण होना स्वाभाविक है। इसलिए, कथा की वातों को समझकर, मिथ्यामत त्यागना और केवली प्ररुपित धर्म का पालन करना श्रेयस्कर है।

# श्री साधुमार्गी जैन-
## पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज
## की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल, रतलाम।

इस मण्डल की स्थापना सम्वत् १९७८ में—समस्त श्रावक-श्राविकाओं, एवं साधु-साध्वियों में प्रेम-भाव की वृद्धि करना, आचार-विचार को शुद्ध रखने का प्रयत्न करना, तथा ज्ञान-वृद्धि के कार्यों का सम्पादन करना—आदि उद्देश्यों को लेकर हुई थी। मण्डल अपने उद्देश्यों की पूर्ति का यथासाध्य प्रयत्न कर रहा है और अबतक मण्डल द्वारा समाज की जो सेवा हुई है, वह किसी से छिपी नहीं है।

ज्ञान-वृद्धि के लिये मण्डल ने साहित्य-प्रचार एवं विद्या-प्रचार, इन दो उपायों का आश्रय लिया है। साहित्य-प्रचार के लिये मण्डल, श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज के चातुर्मास के व्याख्यान, संग्रह एवं उनमें से पुस्तकें सम्पादन कराकर केवल छपाई और कागज़ के मूल्य में प्रकाशित करता है। मण्डल से जो पुस्तकें अबतक प्रकाशित हुई हैं, उनकी सूची अन्त में दी गई है। विद्याप्रचार के लिये, जैनहितेच्छु-मण्डल

विद्यालय खाचरोद, और धार्मिक परीक्षा बोर्ड, की स्थापना की गई है। इन उपायों द्वारा समाज का क्या हित हुआ है, इसका निर्णय तो समाज के विचारवान सज्जन ही कर सकते हैं। हम तो केवल यह अपील करते हैं, कि इस मण्डल के सदस्य बन कर इसकी उद्देश्य-पूर्त्ति में सहायता कीजिये। निम्न तीन श्रेणियों में से किसी भी श्रेणी का चन्दा देकर मण्डल का सदस्य बना जा सकता है—

( १ ) ५००) रु० से अधिक देकर वंश-परम्परा के लिये।

( २ ) १००) रु० से अधिक देकर जीवन भर के लिये।

( ३ ) २) रु० प्रतिवर्ष, देकर या कई वर्षों का इसी हिसाब से एक साथ देकर उतने वर्षों के लिये।

मण्डल से निकलनेवाली, 'निवेदनपत्र' नाम की मासिकरिपोर्ट, प्रत्येक सदस्य को निःशुल्क मिलेगी।

विशेष विवरण के लिये, मण्डल के कार्यालय को लिखिये।

---

जीतमल लूणिया द्वारा सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर में मुद्रित